गद्य संकलन



संपादक

करुणापति त्रिपाठी, एम्०, ए०, बी०, टी०,

व्याकरणाचार्य, साहित्य शास्त्री

प्राध्यापक—हिन्दी-विभाग,

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी ।

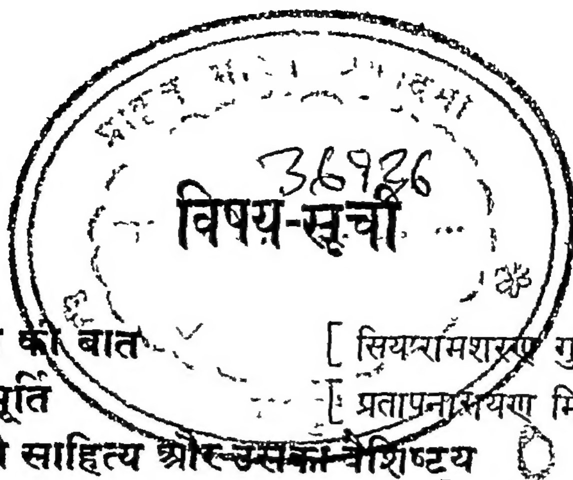
प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स

चौक, वाराणसी

द्वितीयावृत्ति] १९५७ मूल्य २॥)

मुद्रक
श्री भोला यन्त्रालय
८।१७७ खजुरी, बनारस कैण्ट



विषय-सूची

प्रस्तावना

हिन्दी मे आधुनिक निबंधो का आरभ भारतेन्दु-युग से होता है। इसके पूर्व साहित्य के इस प्रकार-विशेष की रचना का प्रचलन हिन्दी मे नही था। अतएव आधुनिक निबध को भारत की किसी पुरानी परपरा के साथ जोडने का प्रयास करना निष्फल है। इसमे तनिक भी सदेह नही कि हिन्दी के वर्तमान निबधो का स्रोत पश्चिमी साहित्य है।

अग्रेजो की राज्यस्थापना के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य और साहित्यिक रचना के अनेक भेदो का परिचय भारतीयो को प्राप्त हुआ। इसी परिचय के कारण भारतीय कलाकार और हिन्दी के भी अनेक साहित्यकार पश्चिम की साहित्यिक निर्मिति के विभिन्न प्रकार-विशेषों—उपन्यास, कहानी आदि—की रचना की ओर उन्मुख हुए। इसी के साथ-साथ प्रायः भारतेन्दु-युग मे हिन्दी के कुछ साहित्यकार निबध लिखने मे भी प्रवृत्त हुए। यदि हम एक वाक्य मे कहना चाहे तो कह सकते है कि अग्रेजी की निबंध-रचना, विशेषतः व्यक्तित्व-प्रधान निबंधो के सपर्क और प्रभाव से प्रेरणा पाकर भारतेन्दु और उनके मडल ने हिन्दी के आधुनिक निबंधो का प्रवर्त्तन किया।

यहाँ निबंध का परिचय और उसके भेदक वैशिष्ट्य का सकेत करने के पूर्व 'निबध' शब्द के विषय मे दो शब्द कह देना आवश्यक है। हिन्दी मे निबध शब्द अग्रेजी 'एसे' (essay) शब्द के समान-अर्थ मे प्रयुक्त है। अंग्रेजी के 'एसे' शब्द का मूल वाच्यार्थ है "प्रयास"—अर्थात् मन मे आई हुई अस्पष्ट अथवा स्पष्ट भावना को स्वच्छद रीति से व्यक्त करने का प्रयत्न करना है, और उसके हिन्दी-पर्याय, 'निबध' शब्द का अर्थ है—भलीभाँति बँधी हुई, गँठी हुई, गुँथी हुई रचना।

यद्यपि 'निबंध' शब्द अब 'एसे' शब्द का समानार्थक भाषान्तर हो गया है तथापि दोनो शब्दो के वाच्यार्थ से व्यंग्य होनेवाले अर्थों के आशय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। 'कृति की अपूर्णता पर स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के प्रयास'—की व्यजना 'एसे' शब्द से ध्वनित होती है और आकार-लघुता के साथ-साथ अभिव्यक्ति-प्रवाह मे संघटन और सग्रथन की व्यंजना 'निबंध' से होती है। दोनो शब्दो की वाच्य-व्यजना मे भेद होते हुए भी आज 'निबंध' शब्द का प्रयोग 'एसे' के भाषान्तर-पर्याय के रूप मे हो रहा है।

यहाँ यह स्मरण दिला देना अत्यावश्यक है कि स्वतः अंग्रेजी-साहित्य मे भी 'एसे' शब्द का प्रयोग किसी एक निश्चित अर्थ मे न होकर बडे व्यापक रूप से हुआ है। कभी तो 'एसे' शब्द का प्रयोग कवित्वपूर्ण रचना के लिए भी हुआ है, जैसे—दि एसे आन मैन, और कभी गभीर एवं वैज्ञानिक शैली मे लिखित विस्तृत ग्रंथ, जैसे 'लॉकस' एसे ऑन ह्यूमन अण्डर स्टैंडिंग' मे भी 'एसे' व्यवहृत हुआ है। इन प्रयोगों के कारण निबंध की लघु-आकृति और गद्यमयता उसके अनिवार्य गुण-धर्म नहीं रह जाते।

इसी भाँति फ्रासीसी के आदि निबंध-लेखक मॉन्टेन की अनुभूति-मुखर, कल्पना-रजित, स्वच्छद एव आत्मीयतोद्बोधक सरल रचनाएँ भी 'एसे' हैं तथा अंग्रेजी के आदि निबंध-लेखक बेकन के लेख भी निबंध कहे जाते हैं जिनकी शैली मे विषय-विवेचन गुरु-गभीर है, अभिव्यक्ति-धारा बुद्धिवैभव और चिन्तन वैदुष्य से गहन है। इसी भाँति विभिन्न विषयो पर सामान्य वर्णनात्मक या निरूपणात्मक शैली मे लिखे गए लेखो को भी 'एसे' या निबंध कह दिया गया है।

एक ओर तो 'निबंध' शब्द का प्रयोग इस भाँति अव्यवस्थित और अनिश्चित अर्थ मे हुआ है, दूसरी ओर साहित्य-रचना के एक विशिष्ट प्रकार के लिए भी 'निबंध' शब्द व्यवहृत होता रहा है। ऐसी स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि पोप या लॉक की कृतियो के समान रचनाओ

के लिए 'एसे' का प्रयोग सर्व-साधारण नहीं है। वे विशेष प्रयोग हैं। उन विशेष-प्रयोगो को छोडकर सामान्यतः 'निबंध' शब्द के प्रयोग दो अर्थों मे होते है—एक सामान्य अर्थ, दूसरा विशिष्ट अर्थ।

सामान्य अर्थवाले 'निबध' के अन्तर्गत साहित्यिक 'निबध' एवं विषय-प्रतिपादक या विषय-निरूपणात्मक—सभी प्रकार की कृतियाँ आ जाती हैं। इनकी विशेषता मुख्यतः इनका लघु आकार और लेखन-शैली है। ऐसे लघुलेख – जिनमे वैज्ञानिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक प्रभृति विषयो का विवेचन, प्रतिपादन, निरूपण आदि रहता है—'निबध' शब्द से सामान्यतः अभिहित होते हैं। इनका विवेचन या निरूपण शुद्धरूप से विपय-प्रधान होता है। पर निबंध शब्द का यह प्रयोग श्लथ एवं अनिर्णीतार्थ-बोधक है। यह प्रयोग साहित्यिक या साहित्यशास्त्रीय नही है, गौण है।

विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त 'निबंध' शब्द ही वस्तुतः उक्त शब्द का साहित्यिक एवं मुख्य अर्थ है। इन साहित्यिक निबधो की सर्वप्रमुख विशेषता है—इनमे विषयी की अनुभूति-जन्य रागात्मकता। पर यह रागात्मकता कही तो विषय-प्रतिपादन को आवृत करके स्वयं अत्यत प्रभावशाली ढंग से मुखर हो उठती है और कही विषय-प्रतिपादन के साथ-साथ बहती हुई विषयिनिष्ठ अनुभूतियो का धूपछाँही व्यक्तित्व घोषित करती है। अतः साहित्यिक निबंधो की इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हे हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है—विषय-प्रधान (आब्जेक्टिव) निबंध और विषयिप्रधान (सब्जेक्टिव या पर्सनल) निबध।

विषय-प्रधान निबध की मुख्य विशेषता है उसमे विषय-प्रतिपादन की प्रधानता जो आरंभ से अन्त तक बनी रहती है। इसमे लेखक का व्यक्तित्व यद्यपि साहित्य के अन्य रचना-प्रकारो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से उसकी कृति मे प्रतिबिम्बित होता है तथापि विषय का तटस्थ चिंतन, विवेचन और प्रतिपादन पर्यालोचनात्मक ढंग से होता है। निबध के आकार

की लघुता इसमे भी प्रायः विवेच्य विषय के अनुसार रहती है और साथ ही साथ आशिक अपूर्णता भी रहती है। एक ओर जहाँ विषय-विवेचन तर्कपुष्ट, क्रम-संयुक्त, विवेक-सवलित तथा विचार-गर्भित होता है वही दूसरी ओर लेखक की शैली-गत प्रेषणीयता, संवेदनशीलता, भावोद्बोधकता आदि मे उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप झलकती रहती है। आचार्य शुक्ल के निबधो को इस वर्ग के आदर्श निबंध कह सकते है। निबध के सबध मे विचार करते हुए उन्होने निबध का जो परिचय दिया है उसके अनुसार गुण-धर्म शुक्ल जी के निबधो मे पूर्णतः वर्त्तमान हैं। उन्होने कहा है—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणो के अनुसार निबध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।"

इसकी व्याख्या करते हुए अन्होने आगे बताया है—"ससार की हर एक बात और सब बातो से सबद्ध है। अपने-अपने मानसिक सघटन के अनुसार किसी का मन किसी सबध-सूत्र पर दौडता है और किसी का किसी पर। ये सबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तो के भीतर नसो के समान, चारो ओर एक जाल के रूप मे फैले हुए है। तत्व-चिंतक या दार्शनिक अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी, कुछ सबध-सूत्रो को पकड कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों मे कही नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सबधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-सबध-सूत्रो की टेढी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखको का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती है।" आगे पुनः वे कहते है—"एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबध-सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निबधों मे किसी

विवेच्य या प्रतिपाद्य विषय का बौद्धिक विवेचन या प्रतिपादन इस ढग से होता है जिसमे प्रमुख संबंध-सूत्र को लेकर आगे बढ़ता हुआ लेखक का हृदय अपनी रुचि के अनुकूल मार्मिक या भावात्मक स्थलो पर पहुँच कर अपने प्रतिपाद्य तक पहुँचने के सीधे और गतिमय मार्ग मे इधर-उधर रमता हुआ आगे बढता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस वर्ग के निबध मे भी आकार-लघुता और थोडा बहुत अधूरापन प्रायः रहता है।

अनेक दृष्टियो से विषय-प्रधान साहित्यिक निबंध के यद्यपि अनेक भेद हो सकते हैं तथापि सामान्यतः तीन भेदो मे उन्हे विभाजित किया जा सकता है—भावात्मक, विवेचनात्मक और वर्णनात्मक।

विषय-प्रधान भावात्मक निबध का लेखक अपनी भावुकतापूर्ण, मर्मस्पर्शी सजीव भाषाशैली और भावानुकूल उसके उतार-चढ़ाव की सहायता से पाठक को पर्याप्त प्रभावित करता है। लेखक की अनुभूति-तन्मयता उसके रागात्मक कथन को प्रभावशाली बनाती है और उसकी सत्यता पर बल देती है। वस्तु और व्यक्ति, दोनों की धपछाँही अभिव्यक्ति रचना को आकर्षक और प्रभावात्मक बनाती है। सरदार पूर्णसिंह का निबध प्रस्तुत सकलन मे इस वर्ग का अच्छा उदाहरण है।

विवेचनात्मक निबध मे विषय का विवेचन या प्रतिपादन तर्कपुष्ट बुद्धि-विवेक से किया जाता है। लेखक के व्यक्तित्व की छाप उसकी विवेचन-दृष्टि, रुचि-अरुचि एवं स्व-सम्मत सिद्धान्त के प्रतिपादन मे दिखाई पडती है। पर साथ ही उसकी प्रतिपादन और विवेचन की शैली युक्ति-युक्त, तर्क-पोषित तथा विचार-गर्भित बनकर ही व्यवस्थित रूप से सामने आती है। ऐसे निबध की शैली चिन्तन-गाम्भीर्य और सूक्ष्म-निरीक्षण-सपन्न होकर भी परिष्कृत, सुस्पष्ट और बोधगम्य होती है। साहित्यिक निबध से इतर सामान्य विवेचनात्मक निबंध की रचना मे लेखक की कृति और शैली, भाव और राग को उद्‌बुद्ध नही कर पाती—सीधे-सीधे वस्तु को लेकर बुद्धिबल से आगे बढ़ती है और साहित्यिक विवेचनात्मक निबंध का लेखक

रागात्मक वृत्तियो का उद्बोधन द्वारा पाठक को आत्मीय बनाकर अपनी प्रभावमयी सवेदनशीलता से तीव्र बना देता है। 'ईर्ष्या', 'साहित्य और राजनीति' आदि इस सग्रह मे इस वर्ग के निबध है।

लेखक के व्यक्तित्व और उसकी अनुभूति से अनुप्राणित वस्तु, घटना वा व्यक्ति का वर्णन करनेवाला साहित्यिक निबध वर्णनात्मक कहा जा सकता है। 'पर्वत-पुत्र' मे महादेवी का रेखा-चित्रात्मक वर्णन, 'एक चरित्र' मे कथात्मक वर्णन अथवा 'स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह' मे सस्मरणात्मक वर्णन इस कोटि के अन्तर्गत लिए जा सकते है। द्विवेदी जी की रचना 'गोपियो की भगवद्भक्ति' भी इस प्रकार के अन्तर्भूत होती है।

साहित्यिक निबधो मे भी दूसरा वर्ग—विषयिप्रधान (वस्तुप्रधान या आत्मानुभूतिप्रधान अथवा सब्जेक्टिव या पर्सनल) निबंध अधिक रागात्मक होता है। क्यो कि कलाकार की स्वच्छन्द रागवृत्तियो का बंधनहीन विलास वहाँ दिखाई पडता है। गद्य-रचना के नियमो—नियंत्रणो से अपरिचालित होकर भी मन और हृदय की चटुल लहरियो के साथ वह उद्वेलित होता चलता है। मानव की भावमयी प्रतिभा से आकलित मानवीय रागवृत्तियो की सहचरी बनकर कलाकार की भाव-कवलित तरल प्रज्ञा उसकी रचना मे प्रकाशित होती रहती है। आकस्मिक रूप से या अनायास प्राप्त किसी प्रेरणा से अनुप्राणित कोई घटना, कोई भावोदय, कोई अनुभूति, कोई प्रसङ्ग, कोई समाचार, कोई दृश्य—लेखक के भाव-प्रवण अन्तःकरण मे विचार की चेतना उद्बुद्ध कर देता है और इस प्रकार विषयिप्रधान निबध का उपादान और उपकरण सक्रिय होकर साकार होने का प्रयास करने लगते है।

व्यक्तित्व की छाप और व्यक्तिगत अनुभूति की सवेदनशीलता ही इस प्रकार के निबध की सर्व-प्रमुखता है। लेख्य निबध की सैद्धान्तिक सगति और युक्ति या विषय का महत्व इस प्रकार के निबधो मे नही रहता। निबध की पक्तियो मे लेखक की आत्मानुभूति और तज्जन्य व्यक्तित्व

कितना मर्मस्पर्शी, प्रभावशाली और संवेदनशील है—यही दृष्टि प्रमुख रहती है। अपनी दृष्टि, आस्था या विश्वास से दूसरे को प्रभावित कर अपना समर्थक बनाने की अपेक्षा इस वर्ग के निबंधकार का प्रयास अपनी ठीक-ठीक स्थिति को प्रकट करने, अपना भीतर और बाहर खोलकर अपने पाठक के सामने निःसंकोच रीति से, आत्मीयता पूर्ण ढंग से प्रकट कर देने की ओर उन्मुख रहता है। ऊपर वर्णित घटना, भाव, अनुभूति, प्रसङ्ग, दृश्य आदि के कारण उसके अन्तर्जगत् में, भावसृष्टि में क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, इसे वह प्रकट कर देता है। उसकी अभिव्यक्ति जितनी ही संवेदनशील तथा अनुभूति-प्रवण होगी—उसका भावात्मक व्यक्तित्व उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। अतः विषयिप्रधान प्रगीत कविता के समान निबंध में भी संवेदनशील भावाभिव्यक्ति की सप्राणता अपेक्षित होती है। विषय अत्यंत साधारण या कभी-कभी सामान्यतः उपेक्षणीय भी हो सकते है, पर लेखक के व्यक्तित्व की भावप्रवण अभिव्यक्ति उसे धार्मिक और मनोरम बना देती है।

विषयि-प्रधान निबंध का लेखक अपनी भाव-लहरियो के साथ उन्मुख होकर उद्वेलन करता चलता है। फलतः उसका रचना-शिल्प किसी निर्धारित रचना-सरणि का अनुगमन करने मे बाध्य नहीं होता। उसकी भावना उसे कब और किधर बहा ले जायगी, कल्पना कहाँ उडा ले जायगी, भावमयी चिन्तनधारा किस ओर बह पड़ेगी, रागात्मक आसञ्जन किधर प्रेरित कर देगा—इसका कुछ निश्चय नहीं रहता। विषय के किस संबंधसूत्र को लेकर वह किधर चला जायगा—कुछ निर्धारित नही रहता। और यह सब कुछ निबंधकार अपने पाठक को इस प्रकार सुनाता है, जैसे लेखक के लिए पाठक ऐसा आत्मीय, ऐसा निकट है, जिससे न तो कुछ गोपनीय है और न सब कुछ सुना देने मे संकोच है। श्रोता न तो ऊबेगा, न थकेगा और न चिढ़ेगा। वह पूर्ण मनोयोग, पूरी सहानुभूति एवं पूर्ण उत्सुकता के साथ सब कुछ सुनेगा, सुने बिना नहीं मानेगा।

यहीं उसकी कला की परीक्षा होती है। उसके कथन की शैली ऐसी होनी चाहिए, उसकी भावाभिव्यक्ति और कथन-पथ मे बहकना-भटकना ऐसा होना चाहिए जो श्रोता को आत्मीय, उत्सुक, सहानुभूति-युक्त और अनुरक्त बनाए रहे। जिस निबंधकार मे यह शक्ति है—वह सफल होगा—अन्यथा उसकी कला पथ मे ही भटकती रहेगी। 'अशोक के फूल' इस प्रकार का उत्कृष्ट निबध है, जहाँ निबधकार 'विषयि-प्रधान' समस्त उपकरणो का उपयोग करने मे पूर्ण सफल है।

ऐसे निबधो मे व्यंग्य-विनोद, आलोचनात्मक व्यग्य, उक्तिवक्रता आदि का पुट भी प्रायः दिखाई पड जाया करता है। हास-विनोद और व्यग्य की सहायता से आलोचना भी मनोरजक हो उठती है। कथा प्रसग, रोचक कथा,खण्ड या आकर्षक वर्णनों द्वारा निबध की मनोहारिता बहुधा बढ़ा दी जाती है। कभी कभी निरुद्देश्य काल्पनिकता और भावपूर्ण मनोरजकता के स्थान पर उपदेशात्मकता या नैतिक शिक्षा का भी प्रयास दिखाई देने से हिन्दी निबध, यह कहा जा सकता है, आरम्भ से ही प्रायः सोद्देश्य रहा है।

विषय-प्रधान निबधो की रचना बहुत-कुछ कथात्मक-सी जान पडती है। कहानी जैसी रोचकता या वर्णनात्मकता ऐसे निबंधो को विशेष आकर्षकता प्रदान करती है। निबन्धकार की आत्मीयता श्रोता को अपने अत्यन्त निकट कर लेती है। और निबंध, ऐसा लगता है, जैसे वक्ता कहानी सुना रहा हो या जीवन की किसी घटना अथवा परिस्थिति का निकट बन्धु के समीप वर्णन कर रहा हो। आकार छोटा होने के कारण निबन्धकार की बात अपूर्ण या अधूरी सी जान पडती है पर इससे आलापगत आकर्षकता बढती है।

कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं जो दोनो ही प्रकार के निबधो मे अन्य साहित्यिक रचना-प्रकारो की अपेक्षा विशेषता उत्पन्न करते हैं। निबध की अभिव्यक्ति-शैली पाठक और लेखक के बीच ऐसी आत्मीयता स्थापित

करती है जिसके कारण व्यवहारिक दिखावा या औपचारिकता तनिक भी नही रह जाती। ऐसा जान पडता है जैसे लेखक ने निकटतम प्रिय बन्धु के सामने अपने सभी अच्छे-बुरे विचार खोल करके रख दे रहा है। यह आत्मीयता विषयि-प्रधान निबध की सर्वप्रमुख विशेषता है।

ऊपर कई बार चर्चा की जा चुकी है कि निबंध की आकृति मे अपेक्षाकृत लघुता होती है। और बहुत कुछ इस लघुता के कारण भी प्रतिपाद्य विषय अपूर्ण या अधूरा रहता है। यद्यपि कभी-कभी बड़े लम्बे, विशेषतः विषय-प्रधान, निबंध लिख दिये जाते हैं और उन्हें निबंध के वर्ग से बहिष्कृत भी नही किया जा सकता तथापि सामान्यतः निबंधो का छोटा और अधूरा होना उनकी विशेष प्रकृति है।

निबध की भावमयता और विषय-प्रधान निबधो मे भी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति सभी प्रकार के निबधों का, जिन्हें हम उक्त कोटि के निबंधो मे गिन सकते हैं, कदाचित् अनिवार्य गुण है। निबन्धकार की प्रज्ञा और भावना, दोनों ही एक दूसरे के सहायक और पूरक होकर विषय को आगे बढाते हैं। विषयि-प्रधान निबध मे भाव-पक्ष की प्रमुखता होती है और प्रज्ञा-पक्ष सहायक होता है, तथा विषय-प्रधान निबधों मे वर्ण्य विषय की प्रज्ञा-समन्वित अभिव्यक्ति मुख्य होती है और भाव-पक्ष अपनी समस्त अनुभूति-तीव्रता के साथ वक्तव्य को अधिक मार्मिक और हृदयस्पर्शी बना देता है। भाव-जगत् मे, समय-समय पर विचरण करता हुआ विषय-प्रधान निबध का लेखक अपने मुख्य संबध-सूत्र को प्रज्ञा-पथ से ओझल नहीं होने देता। उसके विचार भाव-सबलित होने पर भी सुव्यवस्थित और विषय-प्रतिपादन मे सतर्क रहते हैं।

इस प्रकार विषयप्रधान निबधों मे व्यक्तित्व की व्यञ्जना निबन्धकार की बुद्धिपूर्ण उक्ति का अनुगमन और पोषण करती चलती है। किन्तु विषयि-प्रधान निबधों मे व्यक्तित्व का अभिव्यञ्जन सभी प्रकार की विधि-

निषेध-जन्य शृंखलाओं से मुक्त होता है। निबन्धकार की अभिव्यक्ति मन की तरंगों के साथ-साथ विलास करने लगती है।

विषयी की प्रधानता होने के कारण वर्ण्य विषय का महत्त्व तो कुछ नहीं रह जाता, विषयी की अभिव्यक्ति ऐसी आत्मीय रीति से स्वच्छंद विहार करती हुई चलती है। जिससे लेखक अपने अन्तरतम की बहक या उड़ान प्रगट कर देता है और इसी कारण ऐसे निबंध किसी भी विषय पर लिखे जा सकते हैं तथा भावुक निबन्धकार अपने प्रतिपादन में एक सूत्र से बहक कर दूसरे और दूसरे बहक कर तीसरे पर विचरण करता हुआ कहीं से कहीं पहुँच जाता है, और अपनी बात अतीव रोचकता के साथ सुना ही देता है।

इसी कारण दो बातें विषयि-प्रधान निबंधों में देखी जा सकती हैं, एक तो यह कि उसकी रचना-शैली का कोई निश्चित स्वरूप नहीं निर्धारित किया जा सकता और दूसरी बात यह कि उसका गद्य मनोहारी और आकर्षक होना चाहिये। व्यक्तित्व की अनुभूति अपनी समस्त रुचिरता से इस रचना-शैली को दीप्त करती चले।

फलतः विषयि-प्रधान निबंधों का कोई स्पष्ट वर्गीकरण नहीं हो सकता। विषय की दृष्टि से उसके न जाने कितने भेद हो सकते हैं पर वर्णन-शैली की दृष्टि से कुछ प्रमुख वर्गों का संकेतमात्र किया जा सकता है—कथात्मक या वर्णनात्मक, चिन्तनात्मक या विचारात्मक, विश्लेषणात्मक आदि अनेक भेद हो सकते हैं।

सामान्यतः निबन्ध की यद्यपि कोई एक निश्चित परिभाषा निर्धारित नहीं हुई है, यूरप के निबंधकारों और आलोचकों ने अनेक परिचयात्मक परिभाषाएँ बताने का प्रयास किया है तथापि किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर वे नहीं पहुँच सके हैं। इस रचना-प्रकार के परिचय-संकेत के लिए इतना कहकर संकेत किया जा सकता है कि गद्य-रचना के उस प्रकार को

हम निबन्ध समझते है जिसमे विवेच्य का विस्तार लघु होता है, जिसका प्रतिपादन स्वच्छन्द और आत्मीयतापूर्ण ढग से किया जाता है। लेखक के व्यक्तित्व का रचना मे झलकते रहना मुख्य गुण है। विस्तार की लघुता से अधूरापन रहता है और विषय का प्रतिपादन प्रायः परिपूर्ण न होकर या तो अनुभूति-परक होता है अथवा विश्लेषण-विवेचन से सवलित। कभी वह विषय की प्रधानता की ओर उन्मुख होता है और कभी मन की उडान के साथ उडता हुआ, श्रोता और पाठक के हृदयो को एकानुभूति मे आबद्ध कर देता है। निबन्ध वस्तुतः गद्य-साहित्य की उपचारहीन, विशिष्ट और उत्कृष्ट रचना है।

करुणापति त्रिपाठी

निवेदन—

प्रस्तुत संकलन मे रचनाओं का क्रम ऐतिहासिक न होकर अध्ययन-अध्यापन की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति अनुकूल है। रचनाएँ ख्याति-लब्ध निबन्धकारों की ही हों और प्रतिनिधि-भूत हों इस ओर अधिक सावधान रहने की चेष्टा की गई है। स्थानाभाव के कारण अनेक उत्तमकोटि के निबंधकारो की कृतियाँ संकलित न की जा सकीं, फिर भी जितना संकलन हुआ है वह निबध-रचना का प्रतिनिधित्व कर सके, इसका प्रयास किया गया है।

बहस की बात

सियारामशरण गुप्त

बहुत गम्भीर समस्या थी । एक सज्जन कह रहे थे, यह घर पूर्व दिशा मे है, दूसरे सज्जन का कहना था, ऐसा नही हो सकता । अपने गले के जोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम मे रख देने की इच्छा उनकी थी । एक अँगरेज कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनो का दिक्-विपर्यय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था । अपने मध्यकेन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमागरमी और तेजी से आगे बढ रही थी । ऐसी स्थिति मे एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस मे मिल सकता था, परन्तु उनके मत नही । वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवो की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे । ऐसे विकट प्रसग मे उस घर का प्राण-सकट टाल कर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है, आपके यहाँ से पश्चिम । अतएव सही है तो आप दोनो और गलत है तो आप दोनो । परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम मे जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व मे, चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यही शान्त हो गई—कम से कम ऊपर से तो हो ही गई ।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात की बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा। परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार था—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रक्खी है। पर उसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी के इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रखा है। दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रतिउत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनो का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाय तो हम में कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े मे ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियो मे इन्हे हम और कुछ कहते हो। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यो न हो—इससे विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा उसी मे कर दी जाती है। कैसे की जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले है। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधार ही लेकर अपने प्रमाणपत्र के साथ वे हमे छुट्टी दे देते है कि अब तुम किसी भी राज-दरबार मे जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयो मे जितने भी मामले पहुँचते है, उनमे अधिकांश इन सम्मुख विरोधी दो दिशाओ के विवाद के ही नए-नए आदर्श अथवा साँचे है।

न्यायालय ही नही, हमारा यह महाभारत रात दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नही पडती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते है। परन्तु रूखी रोटी की तरह अकेले-अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार मे अनाहार से अधिक नही। कदाचित् इसी कारण कालकोठरी की सजा वर्तमान समय की एक बहुत बडी सजा है। तो हॉ, जहॉ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है—'यह बात ऐसी है', दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'नहीं, यह बात ऐसी हो नही सकती!' दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्कसगत है कि कुछ प्रसग जाने-समझे बिना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जब कि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कर चुका हो।

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बडा जन-समूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर मे कितनी तेजी है, इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसीसे अस्पृश्य समझ कर यहीं छोडी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ भी नहीं बिगडता। संसार के अधिकाश युद्धो का उद्गम इसीके भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते है। वहॉ आरम्भ मे एक कहता है—'ऐसा'—दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'ऐसा हर्गिज नही।' बस इसीके बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। ससार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है।

तो हॉ, जब किसी एक को अस्पृश्य कह कर छोड दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पडेगा। किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए जान नही पडता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कही किसी को चोट न लग जाय तो भला

यह भी कोई बात हुई ! सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर-फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीसी बार इसे निर्वंश ही क्यो न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वह तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यञ्जना के आवरण मे कोमल करने—इसे वैश्य-वर्ण मे लाने का यत्न किया है। परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण छिपा नही रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नही तो यह आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस मे मुँहकी खानी पडी है, इसीसे छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने मे ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने मे नहीं।

वास्तव मे जीभ की महिमा है ही ऐसी। विधाता ने हमे आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो-दो की सख्या मे दिये है, तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमे एक क्यो दी ? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पडता है, बाद मे उसे इसमे अपनी भूल मालूम हुई। इसीसे इसके बीचोबीच उसने एक दीवार खडी करके एक को दो मे बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही सशोधन का प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यो न माना जाय कि जीभ के एक रखने मे उसका कुछ विशेष हेतु था ? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय साँप के द्विजिह्व होने की बात कह कर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कह कर भी नही कि उस अवस्था मे खाद्य पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ की संख्या मे दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसी को किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओ मे जाकर

किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्यकी एक जीभ कहती—'मीठा', दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती—'नहो, कड़ुआ'। इस प्रकार अपने आपमें ही आनन्द रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे इस बहु-विचित्र ससार के असख्य टुकडे न हो जाते? दूसरो का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पडती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढकर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व ही होता, न राजा की एकान्त काल-कोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता। इसी सबके कारण तो हमारा कर्म-मुखरित ससार इतना प्रिय और मधुर है!

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोडकर भी किसी और को होना चाहिए। यह और कोई ऐसा है जिसके बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता है। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यो न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही हैं। मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख? वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोडे और गधे के भी हमसे बहुत बडे हैं। कुत्ते की घ्राण-शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नही सकते। दौडने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूल कर, उसी की काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पडता है। जो बात कही दूसरे मे नही मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसी की बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बडप्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्व खण्डित करके अपना महत्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महात्वाकाक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बडा कर देना। बैलो में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो वे सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सीग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिए बहुत

सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों में विधाता का जिह्वादान उसके बड़े से बड़े अपव्ययों में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को काट कर कुछ कहने वाला कोई दूसरा होता तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहनेवाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट छील कर एक में बाँधी गई भिन्न-भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एक रस हो सकती है और हो जाती है, पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे मे दूसरे का इसमें अन्तर आना असम्भव है।



शिवमूर्ति

प्रतापनारायण मिश्र

हमारे ग्रामदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य, अप्रतर्क्य एव अचिन्त्य है। तौ भी उनके भक्त-जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते है। उनकी सभी बाते सत्य है, अतः उनके विषय मे जो कुछ कहा जाय, सब सत्य है। मनुष्य की भॉति ये नाडी आदि बंधन से बद्ध नही है। इससे हम उनको निराकार कह सकते है और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर मे उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथातथ्य वर्णन उनका कोई नही कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा वह सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनःशांतिकारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय मे जो कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अधो के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेगे। यह तो सभव नही है कि मनुष्य के बालक की भॉति उसे गोद मे ले के सब कोई अवयव का ठीक-ठीक बोध कर ले। केवल एक अग टटोल सकते हैं और दॉत टटोलने वाला हाथी को खूॅटी के समान, कान छूने वाला सूप के समान, पॉव स्पर्श करने वाला खभे के समान कहेगा, यद्यपि हाथी न खूॅटे के समान है न खभे के, पर कहने वालो की बात

झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक-एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा-पूरा वर्णन व पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे। सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे।

उसके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन, बुद्धि, शरीर संसार परमारथ के लिए मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं, उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावैं। जितनी देर पूजा—पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढने-सुनने में ध्यान दें तो भला है ? और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के विचारे जनक को दोषी ठहराते हैं साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचार-शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं! प्रिय पाठक, उसकी सभी बातें अनन्त हैं। तो मूर्तियाँ भी अनन्त प्रकार से बन सकती हैं और एक-एक स्वरूप में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ-कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ सम्बन्ध है। दृढ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा

नही कि सहज मे और का और हो जाय। इसमे बडा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवे कोई हानि नही हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय मे प्रेमाग्नि धधकी वही हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे, यह नही कि उन्हे अपना नियम पालने से काम। हम चाहे मरे चाहे जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना-पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाये नही हाथ आती, यह बडे ही अमीर का साध्य है, वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हम को तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान खो दे। यह भी बडे ही मनुष्य का काम है। मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते है। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कही नही है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कही नही है। धन और गुण का ईश्वर प्राप्ति मे कुछ काम नही। वह निरधन के धन है। 'हुनर मन्दो से पूछे जाते है बाबे हुनर पहिले'। या यो समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त मे ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर ही मे लय होते हैं, इस बात का दृष्टान्त मिट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगो का नाशक है, हृदय-मन्दिर की कुवासना रूपी दुरगन्ध को हरता है। पारे की मूर्ति मे यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टि-कारक है—'सुगन्धि पुष्टि वर्द्धनम्'। यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्टमूर्ति बनी-बनाई पूजा के लिए विद्यमान है।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर मे विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नही हैं। इनके कल्पनाकारी मूर्ति-निन्दको से अधिक पढ़े-लिखे थे। मूर्तियो के रङ्ग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रङ्ग तीन हैं। श्वेत, जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है, उसकी

किसी बात मे किसी का कुछ मेल नही है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते है जैसे उजले रङ्ग पर सब रङ्ग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नही। यदि हम सतोगुणमय भी कहे तो वेअदबी नही करते। दूसरा लाल रङ्ग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह ससार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिए कविता के आचार्यो ने अनुराग का रङ्ग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रङ्ग और क्या होगा। तीसरा रङ्ग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही रङ्ग है, इस पर दूसरा रङ्ग नही चढ़ता। ऐसे ही प्रेमदेव सबसे अधिक पक्के है, उनपर और रङ्ग क्या चढ़ेगा? इसके सिवाय बाह्य जगत् के प्रकाशक नैन है। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तके काली मसी से लिखी जाती हैं। फिर कहिए जिससे अन्तर, बाहर दोनो प्रकाशित होते है, जो प्रेमियो को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है, उसका फिर और क्या रङ्ग माने? हमारे रसिक पाठक जानते है, किसी सुन्दर व्यक्ति के आँखो मे काजल और गोरे-गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियो भर की पूरी शक्ति, रसिको भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नही होता उन्हे सुन्दरता बढाने को कृत्रिम तिल बनाना पडता है। फिर कहिए तो, सर्वशोभामय परम सुन्दर का कौन रङ्ग कल्पना करोगे? समस्त शरीर मे सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते है? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रङ्ग है? यदि कोई बडा मैदान हो लाखो कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप-ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है? ऐसे ही हमारी, हमारे अगणित ऋषियों की, सब की बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश सकती उसे अप्रकाशवत् न माने तो क्या माने?

रामचन्द्र कृष्णचन्द्रादि को यदि अंग्रेजी जमाने वाले ईश्वर न माने तो भी यह मानना पडेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक सम्बन्ध था। फिर हम क्यो न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रग-ढग का है।

अब आकारो पर ध्यान दीजिए। अधिकतर शिवमूर्ति लिङ्गाकार होती है जिसमे हाथ, पॉव, मुख कुछ नही होते। सब मूर्ति-पूजक कह देंगे कि 'हम तो साक्षात् ईश्वर नही मानते न उसकी यथातथ्य प्रतिकृति माने। केवल ईश्वर की सेवा करने के लिए एक सकेत-चिन्ह मानते है।' यह बात आदि मे शैवो ही के घर से निकली है, क्योकि लिङ्ग शब्द का अर्थ ही चिह्न है।

सच भी यही है। जो वस्तु बाह्य नेत्रो से नहीं देखी जाती उसकी ठीक-ठीक मूर्ति ही क्या ? आनन्द की कैसी मूर्ति ? दुःख की कैसी मूर्ति ? रागिनी की कैसी मूर्ति ? केवल चित्तवृत्ति। केवल उसके गुणो का कुछ द्योतन !! बस ! शिवमूर्ति ठीक यही है। सृष्टि-कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व, अप्रतिमत्व, कई बाते लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती है। ईश्वर यावत् ससार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं वर्णन कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बाते गोल है। बस जब सभी बाते गोल है तो चिन्ह भी हमने गोल-गोल कल्पना कर लिया। यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर प्रतिमा नही है तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योति-लिंग ही से होगी क्योकि जिसमे हाथ, पॉव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नही है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है ? पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहो तो फिर यही क्यो नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते है कि ऑखे हो तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है ? तात्पर्य यह है कि कुछ है, और कुछ नही है। दोनो बाते ईश्वर के विषय मे न कही जा सके, न नहीं कही जा सके, और हॉ कहना भी ठीक है एव नही कहना भी ठीक है। इसी भॉति शिवलिंग भी समझ

लीजिए। यह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव मे यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा समझा और कहा जाय उतना ही बढता जायगा। और हम जन्म भर बका करेगे, पर आपको यही जान पडेगा कि अभी श्रीगणेशायनमः हुई है!!!

इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद मे न ढूँढो पर विश्वास में। इसलिए हम भी योग्य समझते है कि सावयव (हाथ पॉव इत्यादि वाली) मूर्तियो के वर्णन की ओर झुके। जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह ससार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आस-पास है उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौडती है। फारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब ससार की अनित्यता का वर्णन करेंगे तो कबरिस्तान का नकशा खींचेगे, क्योकि उनके यहॉ स्मशान होते ही नही है। वे यह न कहे तो क्या कहे कि बडे-बडे बादशाह खाक मे दबे हुए सोते है। यदि कब्र का तखता उठा कर देखा जाय तो शायद दो-चार हड्डियॉ निकलेंगी जिन पर यह नही लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है, यह दारा की, इत्यादि।

हमारे यहॉ उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योकि अन्य धर्मियो के आने से पहिले यहॉ कबरो की चाल ही न थी। यूरोप मे खूब-सूरती के बयान मे अलकावली का रग काला कभी न कहेगे। यहॉ ताम्र वर्ण सौन्दर्य का अग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातो में समझ लीजिए तब समझ मे आ जायगा कि ईश्वर के विषय मे बुद्धि दौडाने वाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही है। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान मे भी कहीं-कहीं खुदा का दाहिना हाथ, बायॉ हाथ इत्यादि वर्णित है, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप मे बनाया। चाहे जैसी उलट-फेर की बाते मौलवी साहब और पादरी साहब कहे, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है तो उसका भी रूप

हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं जैसो से प्रत्यक्ष मे हमारा उच्च सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई-बन्धु, राजा, गुरु, जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते है उन सब के हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए है, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा, बस इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ है क्योकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक है जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओ के लिए महा भयजनक है। अथ च हम उसकी मगल-मयी सृष्टि मे हलचल डालेगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति मे कई एक विशेषताएँ है जिनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते है।

शिर पर गगा का चिन्ह होने से यह भाव है कि गगा हमारे देश की सासारिक और परमार्थिक सर्वस्व है और भगवान सदाशिव विश्व-व्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति कल्पना मे जगत् वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणो मे गगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परम वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण-निर्गत जल को शिर पर धारण करे। ऐसे ही विष्णु भगवान को परम शैव लिखा है कि भगवान विष्णु नित्य सहस्र कमल पुष्पो से सदा शिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार कर कि हमारा नाम कमल-नयन है, अपना नेत्र-कमल शिव जी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता और क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं, पर उनका उत्तर हम कभी पुराण-प्रतिपादन से देगे। इस अवसर

पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे-ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नही दूर होने के। हॉ, इतना हम कह सकते है कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलकारिक वर्णन है। वास्तव मे विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनो एक-ही प्रेमस्वरूप के नाम है। उनका वर्णन पूर्णतया असम्भव है। अतः कुछ-कुछ गुण एकत्र कर के दो स्वरूप कल्पना कर लिये गये है जिसमे कवियो को वचन-शक्ति के लिए आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिव मूर्ति है और वह विशेषतः शैवो के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयो का दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयो से पूछते है कि आप भगवान गङ्गाधर के पूजक हो के वैष्णवो से किस बिरते पर द्वेष रख सकते है? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एव गगाधर कहना छोड दीजिये! नही तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को अपना देवता समझे। इसी भॉति यह भी समझना चाहिए कि गङ्गाजी परम शक्ति हैं, इससे शैवो का शाक्तो के साथ विरोध अयोग्य है। यद्यपि हमारी समझ मे तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष-बुद्धि रखना पाप है, क्योकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा है, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं, इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव-समाज का वैष्णव और शाक्त लोगो से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हे तो परस्पर महामैत्री से रहना चाहिए। शिव-मूर्ति मे अकेली गङ्गा कितना हित कर सकती है इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते है। इसलिए हम इस विषय को अपने पाठको के विचार पर छोड आगे बढते है।

बहुत मूर्तियो के पॉच मुख होते है जिससे हमारी समझ मे यह आता है कि जगत् ससार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदो मे आप को मिल

जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते है उससे भी उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तको पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी वाणी केवल प्रेमियो के सुनने मे आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेद द्वारा बडी हद्द तक चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख-सम्बन्धी सुख औरो के लिए है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है, यह बात तो बडे-बडे ऋषि-मुनि भी नहीं कह सकते, हम क्या है। पर जहॉ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियॉ देखने में आई है उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बडे बुद्धिमान् इस विषय मे लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बाते और भी लिखते, पर इतना लिखने से भी हमे निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार किया है। हॉ यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को ससार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमे सन्देह नही है, क्योकि जहॉ शिव है वहॉ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय मे शिव होगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यो न कैलाश होगा ? हे विश्वनाथ! कभी हमारे हृदय मन्दिर को कैलाश बनाओगे ? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय ? जिस प्रकार अन्य धातु-पाषाणादि निर्मित मूर्तियो का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, रामेश्वर, आदि नाम होते हैं वैसे इस अक्षरमयी शिव-मूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मङ्गलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का अर्थ ईश्वर न समझे। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब

अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक-एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमडेगा और नेत्रो से अश्रु धारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेम-गङ्गा है। उसी के जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिए कि यदि आपके हृदय मे प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान सब पदार्थ शिवमूर्ति है, अर्थात् कल्याण का रूप है। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हे सुख होता, भैया चारे मे नाम होता, विपत्ति-काल मे निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नही हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है! स्वय तुच्छ पदार्थ है। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर है, नही तो घर की चक्की से भी गये-बीते, पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही मे क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आँखे मूँद के अन्धे की नकल कर देखो। अन्धकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने मे हाथ-मुँह दोनो दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग मे गर्मी बढ जायगी। खैर इन बातो के बढाने से क्या है? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे-सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है, ब्रह्म शब्द ही नपुसक है। और हृदय-मन्दिर मे प्रेम का प्रकाश है। ससार शिवमय है क्योकि प्रेम ही वास्तविक शिव-मूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

हिन्दी साहित्य और उसका वैशिष्ट्य

श्यामसुंदरदास

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ

मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारो को दूसरो पर प्रकट करे और स्वयं बडी उत्सुकता से दूसरे के भावो और विचारो को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयो के सम्बन्ध मे कितनी ही बाते सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान उसे चिरकाल से प्राप्त है और उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष, घृणा तथा क्रोध आदि मानसिक वृत्तियो का अभिव्यजन तो मानव-समाज अत्यंत प्राचीन काल से करता ही है, साथ ही प्रकृति के नाना रूपो से उद्भूत अपने मनोविकारो तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियो के सबध मे अपने अनुभवो को व्यक्त करने मे भी उसे एक प्रकार का सतोष, तृप्ति अथवा आनन्द प्राप्त होता है। यह सत्य है कि सब मनुष्यो मे न तो अभिव्यजन की शक्ति एक-सी होती है और न सब मनुष्यो के अनुभवो की मात्रा तथा विचारो की गभीरता ही एक सी होती है, परंतु साधारणतः

यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य मे पाई जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और आनन्द के उस भडार का सृजन, सचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते है।

साहित्य के मूल मे स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज मे सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य मे एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौंदर्यप्रियता की भावना कह सकते है। सौंदर्यप्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वो से अलग करती तथा दूसरी ओर उसे मानवमात्र के लिए आकर्षक बना देती है। जैसे सब मनुष्यो मे मनोवृत्तियो की मात्रा एक सी नहीं होती वैसे ही सौंदर्यप्रियता की भावना उनमे समान रूप से विकसित नही होती। सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यो मे उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। परंतु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रयत्न करके किसी देश अथवा काल के साहित्य मे उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नही लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपो को समझ नही सकते।।

भावपक्ष तथा कलापक्ष

इस प्रकार एक ओर तो हम अपने भावो, विचारो, आकांक्षाओ तथा कल्पनाओ का अभिव्यजन करते हैं और दूसरी ओर अपने सौंदर्यज्ञान के सहारे उन्हे सुन्दरतम बनाते तथा उनमे एक अद्भुत आकर्षण का आविर्भाव करते है। इन्ही दो मूल तत्वों के आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते है जिन्हे हम भावपक्ष तथा कलापक्ष कहते है। यद्यपि साहित्य के इन दोनो पक्षो मे बडा घनिष्ठ सबध है और दोनो के समुचित सयोग और सामजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिए ये दोनों पक्ष अलग-अलग माने जा सकते हैं और इन पर भिन्न-भिन्न दृष्टियो से

विचार किया जा सकता है। साहित्य के विकास के साथ उसके दोनो पक्षो का विकास भी होता जाता है, पर उनमे समन्वय नही बना रहता। तात्पर्य यह कि दोनों पक्षो का समान रूप से विकास होना आवश्यक नही है। किसी युग मे भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग मे इसके विपरीत परिस्थिति हो जाती है। इसलिए साहित्य के इन दोनो अगो का अलग-अलग विवेचन करना केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् कभी-कभी अनिवार्य भी हो जाता है।

भावपक्ष

साहित्य के इन दोनो अङ्गो मे से उसके भावात्मक अङ्ग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य मे भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्धक मात्र है। साथ ही भावपक्ष पर विचार करना भी अपेक्षाकृत जटिल तथा दुरूह है, क्योंकि मनुष्य की मनोवृत्तियाँ जटिल तथा दुरूह हुआ करती है, उनमे शृंखला तथा नियम ढूँढ़ निकालना सरल काम नही होता। मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनाएँ भी बडी विचित्र तथा अनोखी हुआ करती हैं। साहित्य मनुष्य के इन्ही विचित्र और अनोखे भावो, विचारों तथा कल्पनाओ आदि का व्यक्त स्वरूप है, अतः उसमे भी मानव-स्वभाव-सुलभ सभी विशेषताएँ होती हैं। साहित्य मे जो विचित्रता, अनेकरूपता दिखाई देती है उसके मूल मे मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता है। हम स्वय देखते है कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नही रहती। कभी तो हम अनेक अनोखी कल्पनाएँ किया करते हैं और कभी बहुत से साधारण विचार हमारे मन मे उठते हैं; कभी हम बातचीत करते हैं और कभी कथा-कहानी कहते है; कभी हम जीवन के जटिल तथा गंभीर प्रश्नो पर विचार करते है और कभी उसके सरल मनोरजक स्वरूप की व्याख्या करते हैं; कभी हम

आत्मचिंतन मे लीन रहते हैं और कभी हमारी दृष्टि समाज अथवा बाह्य जगत् पर आ जमती है। साराश यह है कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। प्रवृत्तियों की इसी अनेकरूपता के कारण साहित्य मे भी अनेकरूपता दिखाई देती है। कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि जो साहित्य के विभिन्न अङ्ग हैं और इन मुख्य अङ्गों के भी जो अनेक उपाग हैं, उसका कारण यही है कि मनुष्य की मनोवृत्तियो के भी अनेक अंग और उपाग होते है तथा उनकी भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। इन अगों, उपागो एव श्रेणियों के होते हुए भी मानव-स्वभाव के मूल में भावात्मक साम्य होता है, अतएव साहित्य मे अनेकरूपता के होते हुए भी भावना-मूलक समता दिखाई देती है और इसी समता पर लक्ष्य रखते हुए हम साहित्य के इस पक्ष का विवेचन करते हैं।

कलापक्ष

जिस प्रकार मनुष्यो मे अपने भावो तथा विचारो को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावो तथा विचारो को सुन्दरतम, शृंखलाबद्ध तथा चमत्कार-पूर्ण बनाने की अभिलाषा भी उनमे होती है। यही अभिलाषा साहित्य-कला के मूल मे रहती है और इसी की प्रेरणा से स्थूल, नीरस तथा विशृंखल विचारो को सूक्ष्म, सरस और शृंखलाबद्ध साहित्यिक स्वरूप प्राप्त होता है। भावों के अभिव्यंजन का साधन भाषा है और भाषा के आधार शब्द हैं जो वाक्यों मे पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते है। अतः शब्दो तथा वाक्यो का निरतर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आ सकती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित लोकोक्तियो का समुचित प्रयोग तथा भावव्यंजन की अनेक आलकारिक प्रणालियों का उपयोग भी साहित्य-ग्रन्थो की एक विशेषता है। कविता मे भावो के उपयुक्त मनोहर छदो का प्रयोग तो चिरकाल से होता आ

रहा है और नित्य नवीन छंदो का निर्माण भी साहित्य के कलापक्ष की पुष्टि करता है। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यो का समीकरण, शब्दो की लाक्षणिक तथा व्यजनामूलक शक्तियो का अधिकाधिक प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष के विकास की सीढ़ियाँ है। इस विषय का विस्तृत विवरण रीति-ग्रन्थो मे मिलता है। संकुचित अर्थ मे इसको साहित्य-शास्त्र कहा गया है।

सार्वभौम साहित्य

इस प्रकार साहित्य के भाव और कलापक्षो का विवेचन करके हम उसके तथ्य को समझ सकते हैं और यह जान सकते हैं कि साहित्य मनुष्य मात्र के लिए स्वाभाविक है और अपने इस स्वरूप मे वह देश और काल की सीमा से बद्ध नही है। साहित्य का आधार है भाव, और भाव संपूर्ण मानव जगत् की सामान्य निधि है। किसी भी देश, जाति अथवा काल के मनुष्यो के हृदय मे प्रेम, उत्साह, करुणा, क्रोध आदि नाना भावो का उदय सदा एक सा ही होता है। उन भावो के व्यक्त करने के प्रकार अर्थात् भाषा, शैली और परिस्थिति की भिन्नता के कारण उनकी अनुभूति के स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं पड सकता। अनुभूति की इस व्यापक एकरूपता के आधार पर यदि हम चाहे तो विश्व भर के साहित्य की परस्पर तुलना कर सकते हैं और स्थूल रूप से ससार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियो अथवा साहित्य-निर्माताओ की विभिन्न श्रेणियाँ भी निरूपित कर सकते है। उदाहरणार्थ हम यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर की तुलना संस्कृत के आदि-कवि बाल्मीकि से कर सकते हैं और कालिदास तथा शेक्सपियर को उत्कृष्ट नाटककारो की श्रेणी में रख सकते है। वर्ण्य विषयो के आधार पर जायसी तथा उमर खैयाम आदि प्रेमप्रधान कवियो की एक श्रेणी हो सकती है; और देव, बिहारी, मतिराम आदि हिन्दी के शृंगारी कवि सस्कृत के अमरुक प्रभृति कवियो की कोटि मे रखे जा सकते हैं। भावपक्ष की इस समता के साथ कविता के कलापक्ष की तुलना भी व्यापक

दृष्टि से की जा सकती है। उदाहरणार्थ केशवदास जैसे कलाप्रधान कवि की तुलना अँगरेज कवि पोप अथवा ड्राइडेन से की जा सकती है; और कबीर जैसे दार्शनिक किंतु अव्यवस्थित भाषा तथा छदो का प्रयोग करने वाले कवि की समता ब्राउनिंग आदि से हो सकती है।

इसमे सदेह नहीं कि संसार के भिन्न-भिन्न देशो के कवियो और साहित्य-निर्माताओ की यह तुलनात्मक आलोचना बडी ही विशद और उपादेय होती है। इससे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य-मात्र मे जातीय और स्थानीय विशेपताओ के होते हुए भी एक सार्वजनिक एकता है और सभी श्रेष्ठ कवियों तथा लेखको की रचनाओं मे भावनामूलक साम्य भी है। निश्चय ही वह भावना मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकारिणी तथा अत्यत उदार होती है। उत्कृष्ट कोटि के कवियो की कल्पनाएँ एक दूसरे से बहुत अंशो मे मिलती-जुलती होती हैं तथा उनकी काव्य-रचना की प्रणाली भी बहुत कुछ समता लिए होती है। ससार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रो मे सद्भाव उत्पन्न करने मे उस तात्विक एकता का उद्घाटन तथा प्रदर्शन करना अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो उन राष्ट्रो के साहित्य के मूल में है। साथ ही इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा हम अनेक देशो और समयो के कवियो की व्यतिगत विशेषताएँ, उनकी प्रतिभा की दिशा तथा सामयिक स्थिति का भी परिचय प्राप्त कर सकते है। उक्त परिचय से हमे अपने समय के साहित्य की त्रुटियो की ओर ध्यान देने और उन्हे यथाशक्ति सुधारने की चेष्टा करने की भी प्रेरणा हो सकती है। अवश्य ही यह साहित्य का सार्वभौम अध्ययन और आलोचन एक कठिन कार्य है और विशेप सूक्ष्म दृष्टि तथा तत्पर अनुशीलन की आवश्यकता रखता है। साथ ही इस कार्य को करनेवाले व्यक्ति मे राष्ट्रीय या जातीय पक्षपात लेशमात्र भी न होना चाहिए, अन्यथा उसका कार्य विफल तथा हानिकारक भी हो सकता है। खेद है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानो ने इस सम्बन्ध के जो ग्रन्थ लिखे हैं उनमे पाश्चात्य साहित्य को अन्यायपूर्ण

प्रधानता दी गई है। इनका प्रधान कारण राष्ट्रीय पक्षपात ही प्रतीत होता है। इस प्रणाली का अनुकरण करने से किसी उच्च उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती वरन् अज्ञान तथा कटुता की ही वृद्धि होगी।

जातीय साहित्य

भौगोलिक कारणों से अथवा जलवायु के फलस्वरूप या अन्य किसी कारण से, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, अँग्रेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके संबंध में विचार करते हैं तो उसमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती है जिनके कारण उनके रूप कुछ भिन्न जान पडते है तथा जिनके फल-स्वरूप उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता भी समझ में आ जाती है। यह सभव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर विदेशीय या विजातीय कला का अनुकरण करे तथा उनके विचारो की आँख मूँद कर नकल करना आरंभ कर दे, परंतु साहित्य के साधारण विकास मे जातीय भावो तथा विचारो की छाप किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है और इसका कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतंत्र देश का अपना स्वतन्त्र साहित्य तथा अपनी स्वतंत्र कला होती है। भारतवर्ष मे भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओ का स्वतंत्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुई। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओ पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारो की गहरी छापें है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे है। क्षणिक और परिवर्तनशील वर्तमान, चाहे वह कितना ही समृद्ध क्यो न हो, हमारा अतिम लक्ष्य कभी नहीं रहा। उसके भीतर से होकर सदा हमारी दृष्टि भविष्य के पूर्ण आनन्दमय अमर

जीवन पर ही लगी रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं मे आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पड़ती है । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावो तथा विचारो का प्रतिबिंब मात्र है। साराश यह कि जहाँ संसार की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती है, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओ का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओ के कारण "जातीय साहित्य" का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा-सर्वदा पुरातन आधारो पर ही स्थिर रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों मे परिवर्तन के साथ उनमे भी परिवर्तन हो जाता है। इनमे कोई सदेह नहीं कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों मे परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नए आदर्शों की उद्भावना होती है। जहाँ कारण विशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहाँ के नए आदर्शों के स्थायित्व मे बहुत कुछ कमी हो जाती है । जातीयता के स्थायित्व के लिए आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ, समय-समय पर उस धारा की अंगपुष्टि के लिए नए आदर्शरूपी स्रोतो का उसमे मिलना आवश्यक और हितकर होता है । ठीक यही स्थिति साहित्यरूपी सरिता की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परपरागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धात सहसा लुप्त नहीं हो सकते उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता का लोप नहीं कर सकती। जातीयता का लोप कलाओ के विकास मे बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था मे उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रहमी ने, अभी थोडे दिन हुए, कहा है—

भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई है। न तो उसको ठीक-ठीक समझनेवाले है और न उसका यथोचित सम्मान करनेवाले है। हमारे कलाकार ऐसी रचनाएँ करते है जिनमे मौलिकता होती ही नही। इसका कारण यह है कि ये कलाकार सच्चे भारतीय भावो को भूलकर विदेशियो का अनुसरण कर रहे है। मेरी सम्मति मे ये पश्चिमीय कलाकारो की समता कर ही नही सकते—विशेषकर ऐसी अवस्था मे जब कि ये उनकी त्यक्त पुरानी शैलियो का उपयोग करते हैं। इसी बीच मे वे अपनी स्वतंत्र शैलियो को भूले जा रहे

"आजकल भारतीय विद्यालयो मे जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्न श्रेणी की होती है। हम छात्रवृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिए यूरोप भेजने का प्रबंध करते हैं। मेरी सम्मति मे यह हमारी भूल है। मेरे विचार मे उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमी कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नही हो सकता।"

हिंदी में जातीय साहित्य की योग्यता

अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यही छोडकर हमे अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हम यह जानते है कि हिंदी साहित्य का वशगत सबध प्राचीन भारतीय साहित्यो से है; क्योकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परंपरा ही हिंदी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नही, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिंदी ने भी सस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों मे अभिव्यजित आर्य-जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारो की परपरागत सपत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य मे जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य-

मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिंदी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

हिंदी की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोध तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सब का अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते। यदि आजकल दो-चार ऐसे नाटक देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्शों के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से

सतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलबो की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकाररहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

भरे भाग अनुराग लोग कहै राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
राम राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारन जितई है॥

आनद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत ऐश्वर्य की कल्पना मे मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था। इस कारण भारतीय जनता के लिए वह निराशा तथा संताप का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वयो का कभी अनादर नही हुआ। आधुनिक युग के हिंदी कवियो मे यद्यपि पश्चिमी आदर्शों की छाप पडने लगी है और लक्षणो के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सभावना हो रही है परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान है।

यदि हम थोडा सा विचार करे तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय का रहस्य हमारी समझ मे आ सकता है। जब हम थोडी देर के लिए साहित्य को छोडकर भारतीय कलाओ का विश्लेषण करते हैं तब उनमे भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पडती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति मे ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरात अस्थिपजर मात्र ही रहे होगे; परन्तु मूर्ति मे कही कृशता का पता नही, उसके चारो ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य तथा कलाओ मे भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनो के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा मे कुछ भी अतर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनो सत्य हैं, चेतन है तथा आनद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूरकर अपना सच्चा स्वरूप पहचानता है और आनदमय परमात्मा मे लीन हो जाता है। आनद मे विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते हैं, तब उसका रहस्य हमारी समझ मे आ जाता है तथा उस विषय मे और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बडी विशेषता उसमे धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बडी व्यापक व्याख्या की गई है। और जीवन के अनेक क्षेत्रो मे उसको स्थान दिया गया है। धर्म मे धारण करने की शक्ति है अतः केवल अध्यात्मपक्ष मे ही नही, लौकिक आचारो-विचारो तथा राजनीति तक मे उनका नियत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान मे रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदो के एकेश्वरवाद, उपनिषदो के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद, और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज मे हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपो मे पडा। अध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य मे एक ओर तो पवित्र भावनाओ और साधारण लौकिक भावो तथा विचारों का विस्तार नही हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव

साहित्य तक मे हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गम्भीर ऋचाओ से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओ तक मे सर्वत्र परोक्ष भावो की अधिकता तथा लौकिक विचारो की न्यूनता देखने मे आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य मे उच्च विचार तथा पवित्र भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई परतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने मे वह कुछ कुंठित सी हो गई। हिंदी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमे उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणो का सामजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुन्दर-साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव मे हमारे गर्व की वस्तु है; परन्तु समाज मे जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोग रचे जाते हैं तथा गुरुदभ का प्रचार होने लगता है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपो मे देखते हैं। एक तो साप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशो के रूप मे और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिंदी के शृगारी कवियो की कविता के रूप मे। हिंदी मे साप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहो" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नही तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है, क्योकि नीरस पदावली मे दिए गए कोरे उपदेशो मे कवित्व की मात्रा बहुत थोडी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियो ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारो को व्यक्त करने का जो ढग निकाला वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श

की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते है, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नही कर सकते। यह ठीक है कि सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमे शुद्धप्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओ का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था। बात यह है कि भक्ति और शृंगार दोनो का मूल-भाव रति ही है, और भगवद्विषयक रति तथा दांपत्य रति मे प्रधान भेद केवल आलंबनगत है। माधुर्य भाव की भक्ति भक्त और भगवान् के बीच दांपत्य संबध की ही भावना को लेकर चलती है, अतः राधाकृष्ण आदि दिव्य आलंबनो पर से ध्यान हटते ही उसमे और शृंगार मे कोई अतर नहीं दिखाई देता। दोनो के आलंबनगत इस सूक्ष्म भेद पर दृष्टि न रखने के कारण ही भक्तो मे जहाँ शृंगार का वर्णन केवल भगवत्प्रेम की व्यंजना के लिए रूपकमात्र था वहाँ पीछे के शृंगारी कवियो मे कृष्ण और राधा सामान्य लौकिक नायक और नायिका के पर्याय हो गए।

साहित्य की देशगत विशेषताएँ

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ है परतु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से ही सतोष करके, उसकी दो एक देशगत विशेषताओ का वर्णन करके, यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पडता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदो के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि मे भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी है। यदि यहाँ इँगलैंड तथा आयरलैंड जैसे जला-

वृत द्वीप हैं तो चीन जैसा विस्तृत भूखड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियो का उन देशो के साहित्यो से संबध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते है।

हिंदी की देशगत विशेषताएँ

भारत की शस्यश्यामल भूमि मे जो निःसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियो का चिरकाल से अनुराग रहा है। यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिए आकर्षक होती है, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियो मे मानववृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती है। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड के लंबे-लंबे पेडो मे सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटो की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते है, परन्तु जिन्होने भारत की हिमाच्छादित शैल-माला पर संध्या की सुनहली किरणो की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हे घनी अमराइयो की छाया मे कल-कल ध्वनि से बहती निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओ की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियो की मतवाली चाल देख चुके है उन्हें अरब की उपयुक्त वस्तुओ मे सौंदर्य तो क्या, हॉ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियो को प्रकृति की सुरम्य गोद मे क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनों मे तथा सुन्दर जलाशयो के तटो पर विचार करते एवं प्रकृति के नाना मनोहारी रूपो से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते है एव उपमा-उत्प्रेक्षाओ के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओ का उपयोग कर सकते है, वैसा रूखे-सूखे देशो के निवासी कवि नही कर सकते। यह भारतभूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियो का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभूत सौंदर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपो से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका

उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार मे भी करते हैं। यह अखड भूमडल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय है। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के सम्बन्ध मे दार्शनिको अथवा वैज्ञानिको ने जिन तत्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण शुष्क तथा नीरस है। काव्यजगत् मे इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर मे न पडकर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते है। इसे हम प्रकृति संबधी रहस्यवाद कह सकते है, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते है। प्रकृति के विविध रूपों मे विविध भावनाओ के उद्रेक की क्षमता होती है, परतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपो की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नही होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए है परतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियो ने भारतीय मनोरम दृश्यो की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियो को अत्यधिक सरस तथा हृदय-ग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता हैं।

हिंदी के कलापक्ष की विशेषताएँ

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की है। इनके अतिरिक्त उनके कलापक्ष मे भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-सगठन अथवा छंदो-रचना तथा विविध आलकारिक प्रयोगो से नही है, प्रत्युत उसमे भावो को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल मे कवि का व्यक्तित्व अतर्निहित रहता है और आवश्यकता पडने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि

के आदर्शों तथा उनके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते है, परन्तु साधारणतः हम यह देखते है कि कुछ कवियो मे उत्तम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष से अपने भाव प्रकट करते है। अँगरेजी मे इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत (Subjective) तथा वस्तुगत (Objective) नामक विभेद हुए है। परतु ये विभेद वास्तव मे कविता के नही है, उसकी शैली के है। दोनो प्रकार की कविताओं मे कवि के आदर्शों का अभिव्यजन होता है, अन्तर केवल इस अभिव्यंजन के ढग मे रहता है। एक मे वे आदर्श आत्म-कथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप मे व्यक्त किए जाते है तथा दूसरे मे उन्हे व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियो मे दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियो की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीतिकाव्य कहते है और जो विशेषकर पदो के रूप मे लिखी जाती है *।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमे उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बाते भी जान लेनी होगी। वाक्यरचना के विविध भेदो, शब्दगत तथा अर्थगत अलकारो और अक्षर-मात्रिक अथवा लघु-गुरु-मात्रिक आदि छदसमुदायो का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत है कि इन पर यहाँ विचार करना सभव नही और दूसरे इनका सबध साहित्य की आत्मा से उतना पृथक् नही है जितना व्याकरण, अलकार और पिंगल

---

* आजकल हिंदी में अँगरेजी के ढंग की Lyric कविताएँ भी प्रचुरता से लिखी जाने लगी हैं।

से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमे जातीय विशेषताओ की कोई स्पष्ट छाप भी नही देख पडती, क्योकि ये सब बाते थोडे-बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य मे पाई जाती है।

हिंदी का शब्द-समूह

यद्यपि हमारे शब्द-समुदाय के सम्बन्ध मे यह बात अनेक बार कही जा चुकी है कि यह अत्यधिक काव्योपयोगी है, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार कराना पडता है कि इसमे क्रियाओ के सूक्ष्म विभेदो तथा अनेक वस्तुओ के आकार-प्रकार तथा रूप-रंग-सबधी छोटे-छोटे अतरो को व्यजित करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम है। सूर्य, चद्रमा, वायु, मेघ तथा कमल आदि कवि-हृदयो को स्पर्श करनेवाली वस्तुओ के अनेक पर्याय-वाची शब्द है, जिससे उनके समयोचित उपयोग मे बडी सुगमता होती है और जिससे काव्य मे विशेष चमत्कार आ जाता है। परंतु हरीतिमा के अनेक भेदो अथवा पक्षियो के उडने के अनेक स्वरूपो के व्यजक शब्द हिंदी मे उतने नही मिलते। खडी बोली मे तो क्रियापदो का अभाव इतना खटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमो को शिथिल कर नवीन क्रियाएँ गढ लेने तक का विचार करने लगे है और "सरसाना" "विकसाना" आदि ब्रजभाषा के रूपो को भी खडी बोली मे लेने लगे है। हिंदी मे भावो के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परतु प्रत्येक शब्द मे भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार मे भाषा-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा। सस्कृत के स्त्रीलिंग 'देवता' को हिंदी मे पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है, पर यह तो केवल एक उदाहरण है। इसके विपरीत संस्कृत के "कर्म" तथा "कार्य" को हिंदी मे "काम" या "काज" बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है। कभी-कभी तो हम अपने स्वभाव-वैषम्य के कारण शब्दो की सार्थकता का व्यर्थ विरोध करते है। प्रातःकालीन सुषमा की सच्ची द्योतकता "उषा" शब्द मे है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह "सरस्वती" के समकक्ष समझी गई थी। उषा के उपरांत जब सुषुप्त संसार जागकर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जंगम पदार्थ चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय के द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता कहलाएगी, "प्रभात" के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अन्तर न पड़ेगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिंदी का शब्दकोश बहुत कुछ काव्योपयोगी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। कभी-कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत-कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकासक्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो हिंदी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता संतोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है।

हिंदी में भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमें स्वरों तथा लय का सामंजस्य स्थापित किया गया है। यूरोपीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी होता आया है। यहाँ जैसे काव्य से धर्म, अर्थ और काम के साथ मोक्ष-फल की भी प्राप्ति मानी गई है उसी प्रकार संगीत से भी। इस दृष्टि से संगीत के 'मार्ग' और 'देशी' नामक दो भेद किए हैं और 'मार्ग' को विमुक्तिप्रद तथा 'देशी' को लोकानुरंजन बतलाया गया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशभेदों के फल-स्वरूप उसकी 'देशी' नामक शाखा का भी निरंतर विकास होता रहा। (देशे देशे तु संगीत

देशीय तद् विधीयते) हिंदी साहित्य के विकास-काल मे "देशी" सगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमे 'देशी' सगीत का बहुत-कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागो और रागिनियो के अनेक भेदो का ठीक-ठीक अभिव्यजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई, साथ ही जितने सुचारु रूप मे सगीत के अन्य अवयवो का विकास उसमे हुआ है, उतना अन्य किसी प्रातीय भाषा मे नही हुआ है।

हिंदी की दो अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएँ

हमारे साहित्य पर उपयुक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियो का प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासगिक बाते है जिनका हिंदी-साहित्य के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है तथा जिनकी छाप हिंदी साहित्य पर स्थायी नही तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिंदी-साहित्य के प्रारभिक युग के पहले ही सस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यो मे नवीन-नवीन रचना-प्रणालियो के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओ की जो प्रकृति होती है, उसका सस्कृत मे अभाव हो चला था। अनेक रीति-ग्र थो का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य मे गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमो का साम्राज्य उसमे विराज रहा था, उनका उल्लघन करना तत्कालीन साहित्यकारो के लिए असभव-सा था। ये नियम भी ऐसे-वैसे न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कही कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्ही के फेर मे पडकर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक-सी गई थी और तत्कालीन सस्कृत मे जीवन की गति तथा उल्लास नाम-मात्र को भी नही रह गया था। सस्कृत कविता अलकारो से लदी हुई जीवन-हीन कामिनी की भाँति निष्प्रभ तथा निस्सार हो चुकी थी। हिंदी के स्वतत्र विकास मे सस्कृत के इस स्वरूप ने बडी-बडी रुकावटें डालीं। एक तो इसके परिणाम-स्वरूप हिंदी-काव्य का क्षेत्र बहुत-कुछ परिमित हो गया, और दूसरे हिंदी भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर

बहुत दिनो तक अव्यवस्थित बनी रही । यदि हिंदी के भक्त कवियो ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुष्परिणामो को निवारण करने की सफल चेष्टा न की होती तो हिंदी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता । खेद है कि भक्त कवियो की परपरा के समाप्त होते ही हिंदी के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप से प्रभावान्वित होकर उसका अनुसरण करने लगे, जिसके फल-स्वरूप भाषा मे तो सरलता तथा प्रौढता आ गई परतु भावो की नवीनता तथा मौलिकता बहुत-कुछ जाती रही।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिंदी-साहित्य का सपूर्ण युग अशाति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है । हिंदी के प्रारभिक काल मे देश स्वतत्र अवश्य था परतु उस समय तक उसकी स्वतत्रता मे बाधाएँ पडने लग गई थीं और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका था । देश के लिए वह हलचल तथा अशाति का युग था । उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमे देश की स्वंतत्रता नष्ट हो गई और इसके अधिकाश भाग मे विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई । तब से बहुत दिनो तक थोडे बहुत अन्तर से वैसी ही परिस्थिति बनी रही । हमारे सम्पूर्ण साहित्य मे करुणा की जो एक हल्की सी अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणाम-स्वरूप है । पुरानी हिंदी के समस्त साहित्य मे नाटको, उपन्यासो तथा अन्य मनोरंजक साहित्यागो का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत-कुछ इसी कारण से है । केवल कविता मे ही जनता की स्थायी भावनाओ की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ । सामाजिक मनोरजन के एक प्रमुख साधन नाटक रचना का विधान भी न किया जा सका । देश की परतत्रता सर्वतोमुखी साहित्यिक उन्नति मे बाधक ही सिद्ध हुई ।

प्रगतिशील अंश

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हिंदी साहित्य का स्वरूप समझने मे थोडी-बहुत सहायता मिल सकती है, यदि अधिक नही तो

उसकी कुछ स्थायी विशेषताओ का ही ज्ञान हो सकता है । परतु केवल कुछ विशेषताओ के प्रदर्शन से, साहित्य की आशिक झलक दिखा देने से ही, साहित्य का ज्ञान पूरा नही हो सकता । उपर्युक्त बाते तो केवल एक सीमा तक उसके उद्देश्य की पूर्ति करती है । किसी साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल उस साहित्य की जातिगत या देशगत प्रवृत्तियो को ही जानना आवश्यक नही होता, वरन् विभिन्न कालो मे उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल-सम्बन्धी आदोलन के उस पर कैसे-कैसे प्रभाव पडे, किन-किन व्यक्तियो की प्रतिभा ने उसकी कितनी और कैसी उन्नति की, ऐसी अनेक बातो का जानना भी अनिवार्य होता है । ऊपर के विवेचन मे साहित्य के जिस अंग पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है, वह प्रायः उसका स्थिर अग है, परन्तु उसका प्रगतिशील अग भी होता है और यह प्रगतिशील अंग ही विशेष महत्वपूर्ण होता है । समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है । जनता के इसी स्थिति-परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की और हो जाती हैं और साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है । हिंदी साहित्य की भी बहुत-कुछ ऐसी ही अवस्था रही है । देश के महत्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, साप्रदायिक आदि आदोलनो से उसके स्वरूप मे बडे-बडे परिवर्तन उपस्थित हुए हैं और कभी-कभी तो उसकी अवस्था बिलकुल और की और हो गई है ।

आधुनिक युग मे मार्क्सवाद, साम्यवाद, समाजवाद, गाधीवाद आदि अनेक वादो ने सामाजिक परिस्थिति एव दृष्टिकोण मे जो परिवर्तन उपस्थित किए है उनका प्रभाव साहित्य पर भी स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है । मजदूर और किसान के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर गद्य और पद्य मे रचनाओ का बाहुल्य हुआ है ।

———

कङ्कड़स्तोत्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

कङ्कड देव को प्रणाम है। देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कङ्कड शिवशकर समान है ॥१॥

हे कङ्कड समूह ! आजकल आप नई सडक से दुर्गाजी तक बराबर छाये हो इससे काशी खण्ड "तिले तिले" सच हो गया, अतएव तुम्हे प्रणाम है ॥२॥

हे लीलाकारिन्! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हो इससे मानो पूर्वार्द्ध की कथा हौ अतएव व्यासो की जीविका हौ ॥३॥

आप सिर-समूह-भंजन हौ क्योकि कीचड मे लोग आप पर मुँह के बल गिरते है।

आप पिष्ट पशुकी व्यवस्था हौ क्योकि लोग आपकी कढी बनाकर आप को चूसते है ॥

आप पृथ्वी के अन्तगर्भ से उत्पन्न हौ० संसार के गृह-निर्माण मात्र के कारणभूत हो० जल कर भी सफेद होते हौ० दुष्टो के तिलक हौ० ऐसे अनेक कारण हैं जिस से आप नमस्करणीय हौ० ॥४॥

हे सुन्दरी-सिङ्गार ! आप बडी के बडे हौ क्योकि चूना पान की लाली का कारण है और पान रमणीगण के मुखशोभा का हेतु है इससे आपको प्रणाम है ॥५॥

हे चुङ्गी-नन्दन ! ऐन सावन में आप को हरियाली सूझी है क्योंकि दुर्गाजी पर इसी महीने से भीड विशेष होती है तो हे हठमूर्ते तुम को दण्डवत है ॥६॥

हे प्रबुद्ध ! आप शुद्ध हिन्दू हौं क्योकि शहर विरुद्ध हौ० आब आया और आप न बर्खास्त हुए इस से आप को सलाम है ॥७॥

हे स्वेच्छाचारिन् ! इधर-उधर जहॉ आपने चाहा अपने को फैलाया है० कहीं पटरी के पास पडे हो ! कही बीच में अडे हौ अतएव हे स्वतन्त्र० आप को नमस्कार है ॥८॥

हे ऊभड-खाभड-शब्द-सार्थ-कर्त्ता ! आप कोणमिति के नाशकारी हो क्योकि आप अनेक विचित्र-कोण-सम्बलित हौ अतएव हे ज्योतिपारि ! आप को नमस्कार है ॥९॥

हे शस्त्रसमष्टि ! आप गोली, गोला के चचा, छर्रों के परदादा, तीर के फल, तलवार की धार और गदा के गोला हौ इस से आप को प्रणाम है ॥१०॥

आहा ! जब पानी बरसता है तब सडक रूपी नदी मे आप द्वीप से दर्शन देते हौ इससे आप के नमस्कार मे सब भूमि को नमस्कार हो जाता है ॥११॥

आप अनेको के वृद्धतर प्रपितामह हो क्योकि ब्रह्मा का नाम पितामह है, उनका पिता पङ्कज है, उसका पङ्क है और आप उसके भी जनक हौ इस से आप पूजनीयो मे एल एल डी हौ ॥१२॥

हे जोगा जिवलाल रामलालादि मिस्त्री-समूह-जीविका-दायक ! आप कमानी-भञ्जक, धुरी-विनाशक, बारनिश-चूर्णक हौ० केवल गाडी ही नहीं घोडेकी नाल, सुम, बैल के खुर और कटक-चूर्ण को भी आप चूर्ण करने वाले हो इस से आप को नमस्कार है ॥१३॥

आप मे सब जातियो और आश्रमो का निवास है० आप वानप्रस्थ हो क्योंकि जङ्गलों मे लुडकते हौ० ब्रह्मचारी हौ क्योकि बटु हौ० गृहस्थ

हो चूना रूप से, संन्यासी हौ क्योंकि शुद्धमशुद्ध हो० ब्राह्मण हौ क्योंकि प्रथमवर्ण होकर भी गली-गली मारे-मारे फिरते हो० क्षत्री हौ क्योंकि क्षत्रियो की एक जाति हो० वैश्य हो क्योंकि काटा बाटा दोनो तुम मे है० शूद्र हो क्योंकि चरण-सेवा करते हो० कायस्थ हौ क्योंकि एक तो ककार का मेल, दूसरे कचहरी पथावरोधक, तीसरे क्षत्रियत्व हम आप का सिद्ध कर ही चुके है० इससे सर्ववर्णस्वरूप तुमको नमस्कार है ॥१४॥

आप ब्रह्मा विष्णु, सूर्य, अग्नि, जम, काल, दक्ष और वायु के कर्ता हो, मन्मथ के ध्वजा हो, राजा-पद-दायक हो. तन-मन-धन के कारण हो, प्रकाश के मूल शब्द की जड और जल के जनक हो, वरञ्च भोजन के भी स्वादु कारण हो क्योंकि आदि व्यजन के भी बाबाजान हौ इसी से हे कङ्कड तुमको प्रणाम है ॥१६॥

आप अग्रेजी राज्य मे श्रीमती विक्टोरिया और पार्लमेंट सभा के आछत प्रबल-प्रताप श्रीयुत गवर्नर जनरल और लेपटेण्ट गवर्नर के वर्त्तमान होते, साहिब कमिश्नर, साहिब मेजिस्ट्रेट और साहिब सुपरइन-टेण्डेण्ड के इसी नगरी मे रहते और साढ़े तीन तीन हाथ के पुलिस इस्पे-क्टरो और कानिस्टिबिलो के जीते जी श्रीगणेशचतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर मे भडाभड लोगो के सिर पर पडकर रुधिरधारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हो अतएव हे अङ्गरेजी राज्य मे नबाबी-स्थापक ! तुमको नमस्कार है ॥

यह लम्बा-चौडा स्तोत पढ़कर हम बिनती करते है कि आप सफेद सिकन्दरी बाना छोडो या हटो या पिटो ॥१७॥

इति श्री कङ्कड़ स्तोत्र समाप्त

स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह

पद्मसिंह शर्मा

उस दिन डाक मे आए हुए समाचार पत्र देख रहा था। १२ अप्रैल के 'दैनिक हिन्दी-मिलाप' मे एक नोट पर नजर पडी, 'स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह'। नोट पढ कर पर्चा रख दिया। दूसरे अखबार देखने लगा। कुछ देर बाद कुछ ध्यान आया और 'मिलाप' का वह अक निकाल कर ध्यान से पढा। पहली बार सरसरी तौर पर पढने पर 'सम्पूरण सिंह' इस नये नाम के शीर्षक के कारण बात समझ मे न आई थी। जब समझा तो चित्त पर एक चोट लगी। प्रो० पूर्णसिंह का चित्र और चरित्र आँखो के सामने फिर गया। हृदय की एक विचित्र दशा हो गई। प्रो० पूर्णसिह के सबध की बहुत सी बाते याद आने लगी। सन् १६०६ की बात है, प्रो० पूर्णसिह देहरादून के फारेस्ट कालेज मे इम्पीरियल फारेस्ट कैमिस्ट के पद पर थे। वही उनसे परिचय हुआ था।

उन दिनो 'सरस्वती'-सम्पादक श्रद्धेय प० महावीर प्रसादजी द्विवेदी स्वास्थ्य-सम्पादनार्थ मेरे आग्रह और अनुरोध पर ज्वालापुर महाविद्यालय मे आकर एक मास के लगभग ठहरे थे। एक दिन देहरादून जाने का प्रोग्राम बना। द्विवेदीजी और मै, दोपहर बाद की गाडी से ४ बजे के करीब देहरादून पहुँचे। देहरादून की इस यात्रा का उद्देश्य प्रो० पूर्णसिंह

जी से मिलना भी था। आर्यसमाज मंदिर में असबाब रख कर हम लोग पूर्णसिंह से मिलने उनके बंगले की ओर चले। बंगले के पास पहुँच कर पचास कदम की दूरी से देखा कि प्रो० साहब अपने बंगले की ओर धीर गति से जा रहे हैं। हम अभी कुछ फासले पर थे। पूर्णसिंह जी अपने बंगले के दरवाजे पर पहुँच चुके थे, इतने में ही उनके बंगले से एक काषायवेशधारी साधु आता दिखाई पड़ा। साधु जल्दी-जल्दी कुछ बड़बड़ाता हुआ आ रहा था। बंगले के दरवाजे पर प्रो० साहब और साधु का सामना हो गया। प्रो० साहब साधु से कुछ सुनकर आवेश की सी दशा में आ गए। साधु को बंगले की ओर लौटाने का आग्रह करने लगे साधु क्रोध में था, और लौटना न चाहता था और पूर्णसिंह उससे लिपट रहे थे और मना रहे थे। हम यह तमाशा देख कर बंगले की ओर जल्दी-जल्दी बढ़े। जब पास पहुँचे, तो पूर्णसिंह जी होश में न थे, जमीन पर लोट रहे थे। कोट के बटन तोड़ दिये थे, साफा दूर पड़ा था। यह विचित्र दशा देख कर हम घबरा गए। कुछ भेद समझ में न आया, वह साधु भी कुछ चकित-सा क्रोध मुद्रा में पास ही खड़ा था।

मैंने पूर्णसिंह को उठाने और होश में लाने की चेष्टा की। कुछ देर तक वह उसी दशा में पड़े रहे। मैंने उन्हें झंझोड़कर कहा—'उठिए, आपसे मिलने द्विवेदी जी आए हैं,' उन्होंने अबतक हमें पहचाना न था। उन्हें खयाल तक न था कि हम उनके पास खड़े हैं। अब उन्हें कुछ होश आया और एकदम घबराकर उठ बैठे। हाथ मिला कर बोले,—'आप कब आए?' फिर द्विवेदी जी की ओर झुके, प्रणामकर कहा—'मुझे मालूम न था कि आप मुझसे मिलने आ रहे हैं। मैं इस समय आपे में न था, आत्मस्मृति की अवस्था में पहुँच गया था।' यह कहते हुए और हम लोगों को साथ लिए हुए बंगले में पहुँचे। बैठ कर बातें होने लगीं। मैंने पूछा—'यह क्या बात थी।' कहने लगे 'कुछ नहीं। यह साधु जी आए, मैं घर पर न था। किसी ने इनका उचित सत्कार न

किया, कुछ कह दिया। यह अपमान से खिन्न होकर जा रहे थे। इससे मेरे हृदय पर बडी वेदना पहुँची। किसी गृहस्थ के घर से कोई अभ्यागत साधु इस प्रकार खिन्न होकर लौटे, यह मुझे सह्य नही।' साधु महराज भी लौट आए थे। पास बैठे हुए उफन रहे थे। उनका रोष अब भी पूरी तरह शान्त न हुआ था। चेहरे का रंग कपडो से भी ज्यादा लाल हो रहा था।

साधु की इस उद्दण्डता और धूर्तता पर मै मन ही मन उसे धिक्कार रहा था। श्री द्विवेदीजी को भी उस पर क्रोध आ रहा था। वे उसकी खुलकर भर्त्सना करना चाहते थे। साधु के क्रुद्ध होने का कारण जब मालूम हुआ तो हमे उस पर और क्रोध आया। बात कुछ भी न थी। यह साधु अकसर पूर्णसिंह जी के यहाँ आया करते थे और नरमचारा कर जाते थे। पूर्णसिंह जी को साधुओ पर बडी आस्था थी और श्रद्धा थी। उन दिनो उन्हे पॉच-सौ से अधिक वेतन मिलता था, जिसका अधिकाश साधु—महात्मा लोग ही उडा जाते थे। उस दिन जो यह साधु आए, तो पूर्णसिंह जी अभी दफ्तर से नही लौटे थे। प्रोफेसर साहब के पिताजी भी यही आए हुए थे। उन्हे इन साधुओं मे कुछ ऐसी श्रद्धा न थी। पूर्णसिंह की साध्वी पत्नी बाल-बच्चो को लिए हुए किसी और काम मे लगी थी, उन्हे इन दुर्वासा साधु के आने की खबर न थी। प्रोफेसर साहब के पिता जी ने इनका कुछ सत्कार न किया। बस, यही अपराध था, जिस पर साधुजी बिगड उठे थे। यह सब किस्सा सुनकर मैने और द्विवेदी जीने साधु को फटकार बताई और प्रोफेसर साहब अब भी अपने को दोषी समझ रहे थे। उनकी पतिप्राणा पत्नी भी अपने अपराध के लिए क्षमा माग रही थी। कुछ हमारी फटकार से, कुछ इस अनुनय-विनय से, साधु के क्रोधज्वर का टेम्परेचर नार्मल हुआ और खिसियाने होकर चले गए।

द्विवेदीजी को प्रोफेसर साहब से मिलने का शायद यह पहला ही मौका था। कुछ देर बैठ कर हम लोग भी चले आए। इस घटना का

द्विवेदी जी के कोमल और भावुक चित्त पर बडा ही प्रभाव पडा और उन्हे जब यह मालूम हुआ कि वह देवी प्रोफेसर साहब की पत्नी हैं तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। कहने लगे, मै तो यह समझ रहा था कि यह स्त्री प्रोफेसर साहब के बच्चो की धाय और परिचारिका हैं।' प्रोफेसर साहब के घर का सब काम—बच्चो को खिलाना, रोटी बनाना, आने वाले अभ्यागत साधुओ का सत्कार करना, उनकी सेवा-सुश्रूषा, उनकी पत्नी अपने ही हाथो से करती थीं। कोई दासी न थी। यह जानकर द्विवेदी जी गदगद हो गए, और प्रोफेसर साहब तथा उनकी पत्नी की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। ऐसा विद्वान और एक उच्च पदाधिकारी उन सज्जन ऐसी सादगी से जीवन व्यतीत करता है।

इस अदृष्टपूर्व घटना का द्विवेदी जी पर बडा स्थायी प्रभाव हुआ, जिसकी चर्चा देहरादून से लौटने पर भी बार-बार करते रहे।

प्रो० पूर्णसिंह बडे ही सहृदय, भावुक और उदार व्यक्ति थे। उनका घर अभ्यागतो की शाला थी। मिलने वालो का तॉता लगा रहता था। कई सज्जनो की वे स्थायी रूप से सहायता करते थे। साधुओ के लिए तो वे कामधेनु ही थे जो उन्हें हमेशा दुहते थे। उनका सब वेतन इन्ही कामो मे खर्च होता था। प्रो० पूर्णसिह स्वामी रामतीर्थ जी महराज के प्रधान और अतरग शिष्य थे। स्वामी रामतीर्थ की तरह वेदान्ती की मस्ती उनपर हमेशा छाई रहती थी। वेदान्त-विषयक चर्चा करते समय उनकी वाणी मे अपूर्व तेज और प्रवाह आ जाता था, तल्लीनता की दशा मे झूमने लगते थे। एक बार ज्वालापुर महाविद्यालय मे आए हुए थे। मैने उनसे कहा 'आज व्याख्यान सुनाइए।' कुछ इधर-उधर की बातो के बाद बातो ही बातो मे वेदान्त का प्रसग छिड गया। हम चार-पॉच आदमी थे जो उस समय उनके पास बैठे थे। उन्होने वेदान्त पर कहना शुरू किया। कोई एक घटे तक बडे ही हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक प्रकार से मस्ती मे झूम-झूमकर वर्णन करते रहे। बातो का सिलसिला खत्म करते हुए '

बोले "लो व्याख्यान हो गया। ऐसे व्याख्यान भीड में नही हुआ करते, यह तो कहने-सुनने की बाते हैं।"

बात सचमुच ऐसी ही है। वह उनका बातचीत का व्याख्यान बडा ही अद्भुत था। उन चार-पॉच श्रोताओ मे स्वर्गीय प० भीमसेन शर्मा भी थे। वे भी सुन कर दग रह गए और कहने लगे व्याख्यान को लिखा दीजिए। भारतोदय मे प्रकाशित हो जायगा। प्रोफेसर साहब कहने लगे-"अब किसे याद है, रटा-रटाया पेटेन्ट व्याख्यान तो था नहीं, न मालम जोश मे क्या-क्या कह गया हूँ। उसी वक्त कोई लिखता जाता, तो हो सकता था"। पर लिखने का होश उस समय किसे था ? उस व्याख्यान की बाते याद नही रही, पर उसकी धुँधली-सी स्मृति भी हृदय मे अनिर्वचनीय आनन्द का स्रोत-सा बहा देती है। उन दिनो प्रो० पूर्णसिंह पर रामतीर्थ के वेदान्त की मस्ती का बडा गहरा रग चढा था। उस रंग मे वे शराबोर थे। उनके आचार-विचार और व्यवहार मे वही रग झलकता था। वे उस समय स्वामी रामतीर्थ के सच्चे प्रतिनिधि प्रतीत होते थे। खेद है आगे चलकर घटनाचक्र मे पड कर वह रग एक दूसरे रग मे बदल गया। देहली-षड्यन्त्र के उस मुकदमे मे, जिसमे मास्टर अमीरचन्द को फॉसी की सजा हो गई थी, सबूत या सफाई मे पूर्णसिंह की भी तलबी हुई। मास्टर अमीरचन्द स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी भक्त थे। उन्होने स्वामी रामतीर्थ महराज की कुछ पुस्तके भी प्रकाशित कराई थीं। इस हिसाब से वह पूर्णसिंह के गुरु भाई थे। देहली मे कभी-कभी उनके यहॉ जाकर ठहरते भी थे, उस मुकदमे मे प्रो० साहब की तलबी का यही कारण था।

उस समय देश की दशा कुछ और थी और वह मुकदमा भी बडा भयानक था। बहुत से निरपराध लोग भी उसकी लपेट मे आ गए थे। प्रो० पूर्णसिंह के फॅसने की भी शायद सभावना थी या नौकरी छूटने का डर था। यह देखकर प्रो० पूर्णसिंह के आत्मीय और मिलने वाले, जिनमे

सिक्ख सम्प्रदाय के सज्जनो की सख्या अधिक थी—घबरा गए। उन्होने प्रो० पूर्णसिह पर जोर डाला कि ये मास्टर अमीरचन्द और स्वामी रामतीर्थ से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार न करे। मजबूर होकर प्रो० पूर्णसिंह को यही करना पडा। उन्होने अदालत मे ऐसा ही बयान दिया कि स्वामी रामतीर्थ से या उनके शिष्यो से मेरा किसी प्रकार का भी सबध नहीं है। इस प्रकार प्रो० पूर्णसिह उस मुकदमे की आँच से तो बच गए, पर उनके उन विचारो की हत्या हो गई। स्वामी रामतीर्थ के वेदान्त के सिद्धान्त से उनका संबंध सदा के लिए छूट गया। प्रो० पूर्णसिह को वैसा बयान देने के लिए मजबूर करने वालो मे एक सिक्ख साधु भी थे। उनकी संगति और शिक्षा ने पूर्णसिंह की काया ही पलट दी। उन्होने सब प्रकार से उस सिक्ख साधु को आत्म समर्पण कर दिया। उसी के रग मे रँग गए।

जो कुछ वह कहता, वही करते, स्याह-सफेद का वही मालिक था। पूर्णसिह उसके हाथ के खिलौने थे। इस दशा मे मै उनसे एक बार मिला, तो इस दशा-विपर्य को देख कर बड़ा ही आश्चर्य और खेद भी, हुआ। पूर्णसिंह की मिलनसारी इस दशा मे भी वैसी ही थी। बडे प्रेम से मिले, पर बातो मे वह मस्ती न थी, जिन्होने पूर्णसिंह को पहले देखा था उन्हे इनका यह नवीन रूप किसी बृहत् पुस्तक का भाषान्तर का सस्करण प्रतीत होता था। प्रायः देखा गया है कि अधिक सवेदनाशील और भावुक पुरुष जिधर झुकते है हद तक पहुँच जाते है। अत्यधिक श्रद्धाशीलता भी कभी-कभी मनुष्य के लिए संकट का हेतु हो जाती है। यही पूर्णसिह के अनिष्ट का कारण बनी। देहरादून मे उन्हे सात सौ रुपये वेतन मिलने लगा था, जो योही उड जाता था। उन्हें इसकी जरा भी पर्वाह न थी। पूर्णसिंह अपने विषय के भी पूर्ण पडित थे। उन्होने एक आविष्कार भी किया था। अपने अंग्रेज अफसर से उनकी अनबन थी। पूर्णसिह जैसे मनस्वी आदमी को आले अफसर का

अविवेक जब असह्य हो गया, तब वे इस्तीफा देकर ग्वालियर स्टेट चले गए।

देहरा छोड़ने के कई वर्ष बाद तक कुछ पता न लगा कि वे कहाँ है। एक बार अचानक ग्वालियर से उनकी चिट्ठी आई कि मै अपने लेखो का संग्रह प्रकाशित करना चाहता हूँ और इसमे आपकी सहायता चाहता हूँ, आप इसमे सहायता कीजिए। लेखो का संपादन और संग्रह करके किसी अच्छे प्रेस मे छपाने का प्रबंध कर दीजिए। संवत् १९६६ मे विक्रमी के भारतोदय की अगहन-पौष की संख्या मे उनका 'पवित्रता' शीर्षक एक सुंदर लेख प्रकाशित हुआ था, उसमे अनुवाद की और प्रेस की कुछ अशुद्धियाँ रह गई थी।

प्रो० पूर्णसिंह की भाषा बड़ी प्रभावशाली और प्रवाहयुक्त होती थी। भावो का तो कहना ही क्या है। मालूम होता था कि साक्षात् स्वामी रामतीर्थ की पवित्र वाणी सुन रहे है। पर नागराक्षरों मे उन्हें हिंदी लिखने का उतना अच्छा अभ्यास न था। लेख उर्दू या अंग्रेजी मे लिखते थे। अंग्रेजी के वे धुरन्धर लेखक थे। 'भारतोदय' मे मुद्रित उनका यह लेख उर्दू से उलथा किया गया था। अनुवाद अच्छा न हुआ। उस लेख को मै देख न सका था। मेरी अनुपस्थिति मे वह अनुवाद होकर छपा था। लेख बहुत बड़ा था, उसका पूर्वार्द्ध ही छप सका था सो भी विशुद्ध न छप सका था, इसकी पूर्णसिंह जी को बड़ी शिकायत रही। उनका एक लेख 'सरस्वती' मे भी प्रकाशित हुआ था। सरस्वती की वह संख्या भी उनके पास न थी, उसका पता भी मुझसे पूछा था।

कुछ दिनो बाद उनका एक पत्र पंजाब से आया, जिसमे ग्वालियर छोड़कर—पंजाब के जड़ावाला मे अपना स्वतंत्र कृषि-कार्य प्रारम्भ करने की सूचना दी थी। उसके बाद पूर्णसिंह का कुछ समाचार न मिला था। अब अचानक उनके परलोक-प्रयाण का दुःखद वृत्तांत "हिंदी मिलाप" मे पढ़ा। "मिलाप" का वह नोट इस प्रकार है :—

लाहौर, ७ अप्रैल ।

प्रो० प्रीतमसिंह लिखते है कि "सरदार पूर्णसिंह जी की मृत्यु से सिक्ख जाति की भारी हानि हुई है। वे पजाबी (गुरुमुखी) और इङ्गलिश के उच्चकोटि के लेखक थे। प्रो० पूर्णसिंह का जन्म सन् १८८१ मे ऐबटाबाद मे हुआ था। प्रो० पूर्णसिंह ने 'टोकियो' (जापान) की—इम्पीरियल यूनिवर्सिटी मे सन् उन्नीस सौ से १९०३ तक कैमिस्ट्री की शिक्षा प्राप्त की थी। वहाँ वे स्वामी रामतीर्थ से मिले और वेदान्ती हो गए। सन् १९०४ मे जब वे भारत लौटे, तो उनमे भारी परिवर्तन था। इसके बाद वे देहरादून मे इम्पीरियल फारेस्ट केमिस्ट के पद पर नियुक्त हुए, वहाँ से रिटायर्ड होकर वे ग्वालियर चले गए। इसके बाद उन्होने जाडॉवाला मे अपना कृषिकार्य आरम्भ किया। उन्होने कई पुस्तकें लिखी है जो देश-विदेश मे सम्मान से पढी जाती है।"

प्रो० प्रीतमसिंह जी उनकी मृत्यु से केवल सिक्ख जाति की हानि हुई बतलाते है। पर यह विचार तो बहुत ही सकुचित है। प्रो० पूर्णसिंह सिक्ख जाति के ही नहीं, सपूर्ण देश के एक पुरुषरत्न थे। उनकी मृत्यु से सहृदय पुरुष मात्र की, चाहे वह किसी जाति का क्यो न हो, भारी हानि हुई है। प्रो० पूर्णसिंह केवल पजाबी और इगलिश के ही उच्चकोटि के लेखक न थे, वे हिन्दी-उर्दू के भी अद्भुत लेखक थे। उनके एक ही लेख ने हिन्दी-ससार को चौका दिया। सन् १९०९ के अक्टूबर की सरस्वती मे उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक 'कन्या-दान' था और जिसका दूसरा नाम 'नयनो की गगा' है। इस लेख की उस समय धूम मच गई थी। यह लेख सचमुच ही नयनो की गंगा ही है। इसे पढ़कर पाषाण हृदय भी पिघल उठते है। इस विषय का ऐसा लेख हिन्दी मे आजतक दूसरा नही है। केवल इसी एक लेख के आधार पर हिन्दी इतिहास के एक लेखक ने प्रो० पूर्णसिंह का हिन्दी-गद्य लेखको मे एक विशेष स्थान माना है, जो बिलकुल यथार्थ है। वह एक लेख ही प्रो०

पूर्णसिंह के नाम को साहित्य-सेवियों में अमर रखने के लिए पर्याप्त है। हिन्दी-गद्य के अनेक वृथा-पुष्ट पोथों से वह एक लेख अधिक मूल्यवान् है। 'भारतोदय' में जो उनका 'पवित्रता' शीर्षक लेख छपा वह भी अपने ढंग का निराला ही है। हिन्दीवालों को चाहिए वह उनके लेखों के संग्रह-प्रकाशन का उचित प्रबन्ध करके अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

प्रो० पूर्णसिंह भावुकता और प्रेम की मूर्ति थे। जब मिलते थे गद्गद हो जाते थे, आँखों में जल झलकने लगता था, हार्दिक उल्लास की हद न रहती थी। एक मनोरंजक घटना अक्सर याद आ जाती है।

एक दफा मैं देहरादून गया हुआ था। शाम के वक्त प्रो० पूर्णसिंह से मिलने के लिए गया। वे न मिले। कुछ देर इन्तजार करके चला आया। बंगले पर कोई आदमी भी न था जिसे अपने आने और निराश लौटने की सूचना दे आता। मैंने पेंसिल से कागज के टुकड़े पर यह शेर लिखा और कमरे के दरवाजे की चिक में रख दिया :—

"नसीब न हो सकी दौलते कदमबोसी,
अदब से चूम के हजरत का आस्ताना चले"

घूम-फिर कर जब सहृदय-शिरोमणि प्रो० पूर्णसिंह बंगले पर पहुँचे और उस पर्चे पर उनकी नजर पड़ी, तो पढ़कर तड़प गए। मुझे प्रातःकाल ही वहाँ से चल देना था। जहाँ ठहरा हुआ था वह जगह उनके बंगले से दूर थी इसलिए अपने ठहरने के स्थान का पता न लिखा था। उसके बाद जब पूर्णसिंह मिले तो कहते थे—"उस शेर को पढ़कर मैं रात भर बेकरार रहा, मजे ले लेकर बार-बार पढ़ता और झूमता था। एक कैफियत तारी हो गई। तमाम रात नींद न आई। दिल चाहता था चलकर अभी मिलूँ, पर मालूम न था कि आप कहाँ ठहरे हैं! आपने मुझे गैरहाजिरी की अच्छी सजा दी!"

प्रो० पूर्णसिंह बहुत दिनों से चुप थे—और अचानक चुपचाप ही चल दिए। उनके पुराने मित्रों को भी न मालूम हुआ—अफसोस! "प्यारे पूर्णसिंह की कहानी रह जायगी?"

———

पर्वतपुत्र

महादेवी वर्मा

बादामी रंग के पुराने कागज के टुकड़े पर लिखी हुई रसीद उँगलियों में थामे हुए जब मैं कुलियों के चित्रगुप्त अर्थात् ठेकेदार की ओर से मुँह फेर कर बाहर, बुझने से पहले जल उठने वाले दीपक जैसी सन्ध्या को देखने लगी तब उन्हें अपनी अधीनस्थ आत्माओं का लेखा-जोखा और अपनी महत्ता का वर्णन रोकना पड़ा। कई बार खास-खास कर जब वृद्ध महोदय श्रोता की उदासीनता भंग न कर सके तब कुछ आगे की ओर झुके हुए दाहिने कान में मटमैला टूटे निबवाला कलम खोंस कर और टेढ़ी-मेढ़ी उँगलियों में बिना ढक्कनवाली और पानी मिली हुई फीकी स्याही से भरी दावात यत्न से दबाकर धीरे-धीरे सीढ़ियों से नीचे उतर गए। और उनके पीठ फेरते ही कितने ही कुली मेरे कमरे के सामने एकत्र होने लगे।

यह डोटियाल सज्ञाधारी जीव भी विचित्र हैं। नैपाल, भूटान आदि से जो कुली इस ओर आते हैं उनकी विशेषता का मापदण्ड बोझा उठाने की शक्तिमात्र है। उनमें प्रायः छोटा से छोटा कुली भी डेढ़ दो मन का बोझ उठाकर ऊँचे पहाड़ों की मीलों लम्बी चढ़ाई पार कर जाता है। पर रूप में यह सब शिव के बराती है—केवल वे कुरूप है दीन नहीं और ये दीन अधिक हैं कुरूप कम !

कोई टाट का सिला विचित्र पैजामा और फटे हुए काले खुरदरे कम्बल का गिलाफ जैसा कुरता गले मे लटकाए भालू के समान घूम रहा है। कोई कोपीनधारी तार तार फटा सूती कोट पहने, कमर मे बोझ बॉधने की मोटी रस्सी लपेटे और रूखे खडे बालो को खुजलाता हुआ सेही जैसा कॉटेदार जन्तु जान पडता है। किसी के, कठिन एडी और ऐंठी फैली उँगलियो वाले पैर सडक कूटने के दुर्मुठ से स्पर्धा करते है और किसी के पॉव स्वरचित मूँज की खुरदरी चट्टी मे सिकुड बॅध कर पजे की भ्रान्ति उत्पन्न करते है।

कोई धूप मे बैठ कर कपडो मे से जुएँ बीनता हुआ बानर का स्मरण दिलाता है और कोई दूकानदार से मॉग जॉच कर मुख तथा हाथ-पैर मे मले हुए तेल के कारण जल से बाहर निकले हुए जलजन्तु की तरह चमकता है। ये भी मनुष्य है—इसे हम अभ्यासवश ही समझते है—इनमे मनुष्य का रूप पाकर नही।

ऐसे विविध अद्‌भुत रूपो की भीड देखकर मेरी मौसी तो कोने मे दबक कर बैठ गई और भक्तिन बाहर देहली पर खड़ी होकर विस्मय की मुद्रा से उनका निरीक्षण-परीक्षण करने लगी, क्योकि दैन्य और विचित्रता का ऐसा समन्वय तो हमारे गॉवो मे भी नहीं मिलता। मैने कुछ उदासीन भाव से कहा 'तुम सब जाओ हमारा कुली जगबहादुर है उसी को भेज दो।'

मेरी बात समझकर उनमे परस्पर देखादेखी होने लगी—भीड मे से कोई विशेष साहसी बोला 'माई जी ई है जगिया,—मैंने इस नाम मे जगबहादुर को नहीं पहचान पाया, अतः फिर कहा 'जंगबहादुर को बुलाओ'—

वे विस्मित से एक दूसरे को धकियाने लगे। फिर एक व्यक्ति को आगे ठेल कर दूसरे ने कहा 'यई तो जगिया बोलता है।' जिसे ढकेला था उसमे अपने कुली के उपयुक्त महत्ता का लेशमात्र न पाकर मैने सन्देह से प्रश्न किया 'क्या नाम है तुम्हारा ?' उत्तर मिला—'जंगबहादुरसिंह।'

नाम ने नाम के आधार को ठीक से देखना आवश्यक कर दिया। पर्वतीय पथ और पत्थरो की चोट से टूटे हुए नाखून और चुटीली उँगलियो के बीच मे ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बनाकर भी खुर न देनेवाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पाव से दो बालिश्त ऊँचा और ऊनी, सूती पैबन्दो से बना हुआ पैजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट मे, नीचे के मटमैले अस्तर की झाकी देती हुई ऊपरी तह तार तार फटकर झालरदार हो उठी थी और अब अपने पहनने वाले को एक झबरे जन्तु की भूमिका मे उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रग और अनिश्चित रूप वाली दोपलिया टोपी के छेदो से रूखे बाल जहाँ तहाँ झाँककर मैले पानी और उसके बीच-बीच मे झाँकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।

घनी भौहो के नीचे मुख चौडा और नाक कुछ गोल हो गई थी। हँसी से निरन्तर खुले हुए ओठो के कोने कान तक फैल कर गाल और कान के अन्तर को छिपा देते थे। छोटी और विरल-मूँछो के काली डोरी जैसे छोर मुँह के दोनो ओर भूल कर, छोटे-छोटे दाँतो से प्रकट होने वाले बचपन का विरोध कर रहे थे। एक ओर संकीर्ण माथे और दूसरी ओर छोटी गोल ठुड्ढी से सीमित चौडे मुख को, रोकर पोछी हुई सी छोटी आँखे वही सजल झलक देती थी जो रेगिस्तान के जलाशय मे सम्भव है। गेहुआँ रग निरन्तर धूप मे रहने के कारण कही पुराने ताबे जैसा और कहीं झाईदार हो गया था। बोझ बाँधने की गाँठगँठीली पुरानी रस्सी का एक छोर गले की माला बनता हुआ कन्धे से लटक रहा था, दूसरा कमरबन्द बनकर कोट के झबरेपन मे कहीं छिपा कहीं प्रकट था। ऐसा ही था वह जगबहादुरसिंह उर्फ जंगिया। उसे अपने भाई धनसिंह के साथ मेरा सामान लेकर केदारनाथ होते हुए बदरिकानाथपुरी तक जाना और श्रीनगर लौटना था। एक रुपया प्रतिदिन के हिसाब से प्रत्येक की मजदूरी तय हुई थी जिसमे से एक आना फी रुपया कमीशन, ठेकेदार का प्राप्य था।

'तुम्हारा भाई कहाँ है' पूछते ही 'धनिया ओ धनिया' की पुकार मच गई। पर बार-बार सबके ढकेलने पर भी जो भाई के पीछे ही अडा रहा उसे मैंने बिना किसी के बताए ही धनसिंह समझ लिया। जगबहादुर का चेहरा भी अपने छोटेपन के प्रति इतना सतर्क था कि उसे देखकर किसी पौराणिक अनुज का स्मरण हो आता था। गोल-मटोल कुछ पुष्ट शरीर वाले धनिया की आकृति भी उसके स्वभाव के अनुरूप थी। विरल भूरी भौंहो की सरल रेखा और छोटी नाक की कुछ नुकीली नोक उसकी सरलता का भी परिचय देती थी और तेजस्विता का भी। ओठो का दाहिना कोना कुछ ऊपर की ओर खिचा सा रहता था जिससे उसके मुख पर मुस्कराने का भाव स्थायी हो गया था। रग की स्वच्छता और त्वचा की चिकनाहट से प्रकट होता था कि कुली जीवन की सारी कठोरता उसने अभी नही झेली है। टाट के पुराने पैजामे और जीन के फटे कोट ने उसे पराजित सिपाही की भूमिका दे डाली थी जो उसके मुख के भाव के साथ विरोधाभास उत्पन्न करती थी।

पहाड के ऊँचे-नीचे रास्ते मे मुझे अपना और अपने साथियो का जीवन इन्हे सोपना होगा और मार्ग मे जीवन की सब सुविधाओ के लिए यह मेरे सरक्षण मे आ गए है, इस विचार ने उन दोनो कुलियो के प्रति मेरे मन मे अयाचित ममता उत्पन्न कर दी। कहा—'तुम दोनो सामान देख लो अधिक लगे तो एक कुली और ठीक कर लिया जायगा।'

आगे-आगे जगिया और पीछे-पीछे धनिया ने कमरे मे पैर रखा और मौसी तथा भक्तिन को विस्मित करते हुए वे भारी बडलो को अनायास उटा उठाकर बोझ का अनुमान लगाने लगे।

मै पैदल ही लम्बी-लम्बी पर्वतीय यात्राएँ कर चुकी हूँ जिनमे सफलता का मूलमन्त्र सामान कम रखना ही माना जाता है। अतः इस सम्बन्ध मे मुझसे भूल होना सम्भव नही। फिर मै यह विश्वास नही करती कि जिन यात्राओ मे खाद्य सामग्री मिल जाने की सुविधाएँ है वहाँ भी घी के पीपे

और बिस्कुट के बीसियों टिन ढोते फिरा जाय। हिम के सुन्दर शिखरों की छाया में पॉलसन का बटर और हन्टले पामर्स के बिस्कुट खाना मेरी समझ में कम आता है, पर वहीं लकड़ी-कण्डे बटोर कर आलू भूनने और बाटी बनाने का सुख मैं विशेषरूप से जानती हूँ। मेरी मौसी अवश्य कुछ अधिक सामान ले जाने की इच्छा रखती थीं, परन्तु मेरी छोटी सी इच्छा को भी बहुत मूल्य देने का उनका स्वभाव है। उनके बेटे जिन तीर्थों में उन्हें नहीं ले जा सकते वहीं मैं ले जा रही हूँ, अतः मैं सब बेटों से बड़ी हूँ और मेरी बुद्धि सब प्रकार विश्वसनीय है, इस सम्बन्ध में उन्हें कोई सन्देह नहीं था !

इस प्रकार उनके इने-गिने कपड़े पर सारे बिस्तर, दवा का बक्स, कपड़े साफ करने के लिए साबुन आदि आवश्यक वस्तुएँ ही साथ थीं जिन्हें जगबहादुर ने पास कर दिया और दूसरे दिन सबेरे ही हमारी यात्रा आरम्भ हुई।

ऐसी यात्रा में चलचित्र के समान जो जीवन दिखाई देता है उससे हम किसी जाति के सम्बन्ध में ऐसा बहुत कुछ ज्ञातव्य जान सकते हैं जो अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं।

घर में व्यक्ति अपने आश्रितों और सेवकों के प्रति अपने व्यवहार को छिपा सकता है, कृत्रिम बना सकता है, परन्तु यात्रा में ऐसा सहज नहीं होता। मनुष्य में जो भी स्वार्थपरता, विवेकहीनता, क्रूरता और असहिष्णुता रहती है वह ऐसी यात्रा में पग-पग पर प्रगट होती चलती है। कुली को पैसे देते समय, उसके विश्राम-भोजन का समय निश्चित करते हुए, साथियों के सुख-दुःख की चिन्ता और सहायता के अवसर पर मनुष्य अपने अन्तरतम का ऐसा आभास दे देता है जिससे उसके चरित्र की अच्छी व्याख्या हो सकती है।

एक ओर श्वेत शतदल की पखड़ियों की तरह कुछ खुली कुछ बन्द, कहीं स्पष्ट कहीं अलक्ष्य पर्वत-श्रेणियाँ और दूसरी ओर कहीं हरितदल से

फैले खेत और कही गली चॉदी जैसे स्रोतो के बीच मे जो जीवन गतिशील है उसे देख कर प्रसन्नता से अधिक करुणा आती है।

डाडी मे बैठा हुआ कोई लम्बोदर अपने हॉफते हुए कुलियो को 'सर्प सर्प' कह कर इस तरह दौडाता है कि उसे देखकर हमे, स्वर्ग पर अधिकार पाकर भी देवता न बन पाने वाले नहुष का स्मरण हो आता है। किसी डाडी मे कोई सम्पन्न घर की शृ गारित प्रसाधित महिला पर्वत के सौन्दर्य की उपेक्षा कर झपकियाँ लेती जाती है। किसी मे घुटे शिर और सूखी लकडी से शरीर वाली कोई वृद्धा, कटुतिक्त अनुपान से उत्पन्न मुद्रा धारण किए और राह मे ऑख गडाए हुए हिलती-डुलती चली जाती है। कहीं कोई धनहीन प्रौढ़ झप्पान मे बैठ कर दोनो पॉव लटकाए हुए, याचना-भाव से आकाश की ओर ताकता है, कही कोई छोटे टट्टू पर विराजमान वीर, घोड़े वाले को पूँछ पकड कर चलने के लिये मना कर रहा है, क्योकि इस व्यायाम से वह सभीत हो जाता है। कहीं डाडी मे मृगचर्म बिछा कर बैठे हुए मठाधीश, शखझालर लेकर पैदल चलने वाले शिष्यो को देख-देख कर सदेह स्वर्गारोहण का सुख अनुभव कर रहे है।

इस डाडी, झप्पान, टट्टू आदि से भरे-पूरे दल के अतिरिक्त एक दूसरा दल भी है जिसमे दरिद्रो का ही बाहुल्य है। प्रायः रुपयो के अभाव मे इनमे से अधिकाश बिना टिकट ही रेलयात्रा समाप्त कर आने मे निपुण होते हैं। फिर पॉच रुपये से लेकर पॉच आने तक अटी मे रखकर और गठरी मे सत्तू-चबेना-गुड का पाथेय लेकर चलते है। जीवित लौटने के साधनों के अभाव मे इनकी यात्रा सब से अन्तिम विदा के उपरान्त ही आरम्भ होती है। राह मे जहॉ बीमार हुए साथी छोड़कर आगे बढ गए। दो-चार दिन वहॉ ठहरने से सबका पाथेय और रुपया-धेली चुक जाने का डर रहता है और उस दशा मे किसी का भी लक्ष्य तक पहुॅचना असम्भव हो सकता है। इसी से वे सब घर से ही ऐसा समझौता कर के चलते है, क्योकि एक का न पहुॅचना तो उसके व्यक्तिगत पाप का परिणाम है, पर

यदि उसके कारण अन्य भी न पहुँच सके तो दूसरों को न पहुँचने देने का पाप भी उसके सिर रहेगा।

चट्टी-चट्टी पर इनमे से दो-एक बीमार पड़ते रहते है और कही-कही मर भी जाते है। अन्त्येष्टि का काम यात्रियो से मॉग-जॉच कर सम्पन्न किया जाता है। साधन न मिलने पर गहरा खड्ड तो स्वाभाविक समाधि है ही।

पैदल चलने वालो मे कभी-कभी भ्रमणप्रिय टूरिस्ट भी आते-जाते मिल जाते है। वे यात्रियो के अस्त्रशस्त्र से लैस तो होते ही है, उनका पैदल चलना भी मनोविनोद के लिए ही रहता है, क्योकि अधिकाश के साथ टट्टू रहते है जिन्हे यात्रियो के सुविधानुसार कभी आगे कभी पीछे चलना पड़ता है। दरिद्र पैदल चलनेवालो से न डाडीवाले बोलते है न ये फैशनेबिल यात्री।

डाडियो के काफले मे भी मृत्यु अपरिचित नहीं, पर वह कुलियो तक ही सीमित रहती है। कभी किसी कुली को हैजा हो गया, किसी को बुखार आ गया, किसी के गहरी चोट आ गई। बस तुरन्त दूसरा कुली ठीक कर लिया जाता है और यात्रा अविराम चलती रहती है। बीमार कुली भाग्य पर छोड दिया जाता है। जीवित रहा तो जहॉ से चले थे वही लौट कर दूसरा यात्री खोज लेता है, मर गया तो फेक देने की सुविधा का अभाव नहीं। डाडियो के साथ सामान ढोने वाले कुली भी रहते हैं, पर उन्हे भी डाडियो के साथ ही दौडना पडता है।

इन यात्रियो की स्थिति बहुत कुछ ऐसी रहती है जैसे हमारे यहॉ इक्केवाले की। वह बारह रुपये का टट्टू खरीद लाता है और उसे रात दिन इस तरह दौड़ाता है कि कम से कम समय मे छत्तीस वसूल हो जायॅ। थके टूटे टट्टू के मर जाने पर वह बारह मे नया खरीदने के उपरान्त भी लाभ मे ही रहता है।

यात्री भी एक रुपया प्रतिदिन देकर कुली खरीदता है, इसलिए लाभ की दृष्टि से तीन दिन का रास्ता एक दिन मे तय करने की इच्छा स्वाभाविक है, अन्यथा वह घाटे मे रहेगा।

यात्री तो बैठा-बैठा ऊँघता रहता है, पकवान, सूखे मेवे आदि उसके साथ होते हैं, अतः अधिक थकावट या अधिक भूख का प्रश्न ही नहीं उठता, पर वह कुलियों के विश्राम और भोजन के समय में से घटाता रहता है। सवेरे ही कह देता है कि बीस मील रास्ता तय करना होगा। चाहे जिस तरह चलो पर शाम को इतना न चलने पर मजदूरी काट ली जायगी। और वे बेचारे मनुष्य-पशु हाँफ-हाँफ कर मुँह से फिचकुर निकालते हुए दौड़ते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि सबल वे ही हैं। यदि उनमें से एक भी भृकुटियाँ टेढ़ी कर अपने सवार की ओर देख कर साभिप्राय इस सैकड़ों फीट गहरे खड्ड की ओर देखने लगे तो सवार बेहोश हो जायगा। पर उन्हें क्रोध आवे तो कैसे!

इसी स्वर्ग के हृदय में बसी मृत्यु और पवित्रता के भीतर छिपी व्याधि में से हमें भी मार्ग बनाना पड़ा। मैं तो डाँडी में बैठती नहीं, दूसरे भी पैदल ही चले। मनुष्य के भाव के समान संप्रेषणीय और कुछ नहीं है। इसी से हमारे कुली स्नेहशील साथी बन सके और आज उनकी स्मृति को मैं उस तीर्थ का पुण्यफल ही मानती हूँ। उन दोनों के पास दो टाट के टुकड़े और एक फटी काली कमरी थी जिसे चौड़ाई की ओर से ओढ़ना कठिन था और लम्बाई की ओर से ओढ़ने पर यदि पैर ढक जाते थे तो सिर का बाहर रहना अनिवार्य था और सिर ढक लेने पर पैरों का बहिष्कार स्वाभाविक हो जाता था।

मलिन बिना धुले कपड़ों में भी उन दोनों भाइयों का स्वच्छता-विषयक ज्ञान खो नहीं गया था। चट्टी में सबसे दूर अँधेरे कोने को खोजकर वे कड़कड़ाते जाड़े में कपड़े दूर रख कौपीन-धारी बाबा जी के वेश में भात बनाते-खाते थे। स्वच्छ कपड़ों के अभाव में आचार की समस्या का यह समाधान निमोनिया को निमन्त्रण है, यह मैं प्रयत्न करके भी उन्हें समझा न सकी।

बर्तन के नाम से प्रत्येक के पास एक एक लोहे का तसला था जिसमे से एक मे दाल बन जाती थी, दूसरे मे भात। कभी-कभी दाल का खर्च बचाने के लिए वे झरनो के किनारे खोज कर लिगूणा नाम का जगली शाक तोड लाते और उसी के साथ स्वाद ले लेकर कच्ची-पक्की मोटी रोटियॉ खाते थे। मार्ग मे आलू के अतिरिक्त कोई हरी तरकारी मिलती नही, पर इसे जगलियों के खाने योग्य विषैली घास समझ कर कोई खाने पर राजी नही होता था। एक बार हठ पूर्वक शाक का आतिथ्य स्वीकार कर लेने पर उसमे मेरा भी हिस्सा रहने लगा—और फिर तो उसे हमारे व्यजनो मे महत्वपूर्ण स्थान मिल गया।

मार्ग मे हम सब उनके पीछे चलते थे, अतः शेप शरीर बोझ की ओट मे होने के कारण केवल उनके पैर ही मेरे निरीक्षण की सीमा मे रहते थे। धनसिह की पलके चाहे सकोच से न उठती हो पर उसके पैर भाई के साथ दृढता से उठते थे। जब कभी चढाई पर उनके पजो का भार एडियो पर पडने लगता और आगे रखा हुआ पैर पीछे खिसकता जान पडता तब मै बिना उनका मुख देखे ही थकावट का अनुमान लगा लेती थी। परन्तु 'जगबहादुर थक गए हो' पूछते ही विचित्र भाषा मे वही परिचित उत्तर मिलता 'अस्खा है मा! कुछ तकलीस नही'। अच्छा और तकलीफ के अपभ्र श रूपो पर यदि हँसी नही आती थी तो स्वर की गम्भीरता के कारण। जीवन मे बहुत छोटी अवस्था से ही मै मा का सम्बोधन और उसके उपयुक्त ममता का उपहार पाती रही हूँ, परन्तु उन पर्वत-पुत्रो के 'मा' सम्बोधन मे जो कोमल स्पर्श और ममता की सहज स्वीकृति रहती थी वह अन्यत्र दुर्लभ रही है।

धनिया तो सकोच के कारण सिर नही उठा पाता था, पर जगिया राह मे कई बार घूम-घूम कर हमारी आवश्यकताओ और थकावट का पता लेता रहता था। अन्त मे एक दिन उसने अमूल्य वस्तु माग बैठने वाले याचक की मुद्रा से कहा 'मा आप आगे चलता तो अस्सा होता! हम

पीछू देखता है, फिर देखता है, बोझा से गरदन नही घूमता। आगे रहेगा तो हम सिर ऊँचा करके देख लेगा—वह गया मा, वह जाता है—और हमारा पॉव जल्दी उठेगा।' तब से हम लोग आगे रहने लगे।

आदि-वद्री पहुँच कर धनसिह चट्टी के एक कोने मे जाकर लेट गया और उसे जोर से बुखार चढ आया। मैंने अपने होमियोपैथिक दवाओ के बक्स से कोई दवा खोज कर 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' की कहावत चरितार्थ की और भक्तिन चाय का अनुपान प्रस्तुत कर चतुर नर्स के गर्व का अनुभव करने लगी। जगबहादुर को बैठे देख जब मैने उसे बीमार के पैर दबाने का आदेश दिया तब परिचित सकोच के साथ उत्तर मिला वह बडा है मॉ! वह सरम करता है कैसा करेगा'?

इस शिष्टाचार की बात सुनकर मुझे विस्मय होना स्वाभाविक था। यहॉ तो एक सम्भ्रान्त परिवार की वृद्धा माता ने बताया था कि उसका लडका जब-तब उस पर हाथ चला बैठता है और मातृत्व की दोहाई देने पर उत्तर मिलता है 'वह जमाना गया जब तुम सब पैर पुजाती थी—पैदा किया तो अपने शौक के लिए किया—क्या इसी कारण हम तुम पर चन्दन-चावल चढाते-चढाते जन्म बिता दे?' जब जन्मदात्री के सम्बन्ध मे मनुष्य इतना शिष्ट हो उठा है तब सहोदरता-विषयक शिष्टता की चर्चा करना व्यर्थ होगा। पर जगबहादुर का अनुज इतना प्रगतिशील नही हो पाया, अतः बडे भाई से पैर दबवाना उसे शिष्टाचार के विरुद्ध जान पडे तो आश्चर्य नहीं।

कुली के बीमार पड जाने पर यात्री ठहरते नही—चट्टी से या निकट के गॉव से दूसरा कुली बुलाकर तुरन्त ही आगे बढ जाते हैं। इस नियम के कारण उन दोनों भाइयो के सरल सहज स्नेह का जो परिचय अनायास मिल गया वह अन्य परिस्थितियो मे सुलभ न हो पाता।

जगबहादुर जानता था कि छोटे भाई की जगह दूसरा कुली ले लेगा। पर वह छोड कर चला जावे तो उसकी मॉ को क्या उत्तर देगा! धनिया

न बीमारी की दशा मे लौट सकता था न चट्टी मे अकेले पडे-पड़े अच्छा हो सकता था। कुछ दिन ठहर जाने पर रुपया समाप्त हो जाना निश्चित था, पर दूसरा बोझ मिलना अनिश्चित। ऐसी स्थिति मे उसे छोड कर बडा भाई कर्तव्यच्युत हुए बिना नही रह सकता। अतः उसने निश्चय कर लिया कि वह सबेरे दो नये कुली बुला लावेगा और स्वयं धनिया की देखभाल के लिए रुक जायगा। धनिया ने भाई के मुख से उसका निश्चय न सुनने पर भी सब कुछ जान लिया था। उसे विश्वास था कि उसका भाई उसे छोड न सकेगा, अतः उसकी भी मजदूरी चली जायगी। जो थोडे बहुत रुपये मिलेंगे वे भी बीमारी मे खर्च हो जायँगे—तब दूसरे बोझ की प्रतीक्षा करना भी कठिन होगा और लौटना भी। उसने निश्चय किया कि वह जैसे भी बनेगा उठकर बोझ लेकर चलेगा।

सबेरे झरने से हाथ मुँह धोकर लौटने पर मैंने चट्टी के नीचे वाले खण्ड मे जगबहादुर को दो नये कुलियो के साथ प्रतीक्षा करते पाया और ऊपर धनसिह को कपडे की पट्टी से सिर कस कर बोझा सँभालते देखा। 'क्या तुम अच्छे हो गये' सुनकर उसने थकावट से उत्पन्न पसीने की बूँदे पोछते हुए बताया कि वह चल सकेगा। उसके न जाने से भाई का भी नुक्सान होगा। उन दोनो चचेरे भाइयो के स्नेह-भाव ने कुछ क्षण के लिए मुझे मूक कर दया। मैं दो-तीन दिन वहाँ ठहर कर उन्ही के साथ यात्रा आरम्भ करूँगी यह सुनकर उनके मुखो पर विस्मय का भाव उदय हो आया जिसे देख कर ग्लानि भी हुई और खिन्नता भी। मनुष्य ने मनुष्य के प्रति अपने दुर्व्यवहार को इतना स्वाभाविक बना लिया है कि उसका अभाव विस्मय उत्पन्न करता है और उपस्थिति साधारण लगती है। धनसिंह तीसरे दिन अच्छा हो गया और चौथे दिन हम फिर चले।

उन दोनो के पारस्परिक व्यवहार सौहार्द आदि ने मेरे मन मे उसके प्रति जो ममतामय आदर का भाव उत्पन्न कर दिया था वह उत्तरोत्तर बढता ही गया। मेरी कुछ किताबे, दवा का बक्स, बर्तन आदि वस्तुएँ भारी

था, अतः उनमे से प्रत्येक उन्हे अपने बोझ मे बॉधकर दूसरे का भार हल्का कर देना चाहता था। सबेरे एक दूसरे से पहले उठने का प्रयत्न करता था जिसमे सब भारी चीजे अपने बोझ मे बॉधने का अवसर पा सके। एक बताशा देने पर भी एक भाई दूसरे की खोज मे दौड़ पडता था। कोई देखने योग्य वस्तु सामने आते ही एक दूसरे को पुकारने लगता था। वे दोनो ऐसे दो बालको के समान थे जिन्हे किसी ने जादू की छड़ी से छूकर इतना बडा कर दिया हो।

मार्ग के अन्य कुलियो के प्रति भी उनके व्यवहार मे संवेदनशीलता और सहानुभूति ही रहती थी। एक बार पहाड से गिरती हुई गाय इतने वेग से मार्ग तक फिसलती चली आई कि उसके खुर की चोट से एक कुली का पॉव घायल हो गया। धनसिंह को सामान सौपने के उपरान्त जंगबहादुर उस लोहूलुहान वाले कुली को पीठ पर लादकर झरने तक ले गया और हमारे मरहम पट्टी कर चुकने पर उसे डेढ मील दूर अगली चट्टी तक पहुॅचाया। इतना ही नहीं, उसे अपना और उसका बोझ भी लाना पड़ा और अॅधेरे मे ठिठुरते हुए, अपने फटे कपडो मे लगे रक्त के दाग भी साफ करने पडे। पर प्रश्न करने वाला उससे एक ही उत्तर पा सकता था 'कुछ तकलीस नहीं, अस्सा है।

धनसिंह सकोची होने के कारण बातचीत कम करता था पर जंग-बहादुर जब-तब बैठकर अपने माता, पिता, गॉव, घर आदि की कहीं सुखद, कहीं दुखद कथा कहता रहता।

वह नैपाल के छोटे ग्राम मे रहने वाले माता-पिता का अन्तिम पुत्र है। जीविका का अन्य साधन न होने के कारण वह बचपन से ही अन्य कुली साथियो के साथ इस ओर आने लगा। गर्मियों के आरम्भ मे वे आते और शरद के आरम्भ में लौट जाते है। किसी को मजदूरी के सिल सिले मे कैलाश, किसी को पिण्डारी और किसी को बदरी-केदार की यात्रा करनी पडती है। ठेकेदार के पास सबके नाम और नम्बर रहते है। यदि

कोई कुली लौट कर नहीं आता और समाचार भी नही मिलता तो वह मरा समझ लिया जाता है। इसी प्रकार जब कोई सीजन के अन्त मे घर नहीं लौटता और न साथियो के द्वारा कोई समाचार भेजता है तब घर वाले भी उसे महायात्रा का यात्री मानकर क्रिया-कर्म द्वारा उसका पथ सुगम बनाने का प्रयत्न करते है।

जगबहादुर अनेक बार आपत्तियों मे पड चुका है क्योकि वह अधिक कमाने की इच्छा से दूर-दूर की यात्राएँ ही नहीं करता, एक सीजन मे कई कई यात्राएँ कर डालता है। उसके अनिश्चित जीवन के कारण ही विवाह योग्य कन्याओ के पिता उसे जामाता होने के उपयुक्त नही मानते थे। परन्तु दो वर्ष पहले उसे अविवाहित रहने के शाप से मुक्ति मिल चुकी है। वयस्क वधू के माता-पिता थे ही नही। सम्बन्धियो ने सोचा—चाहे वर किसी पर्वतशिखर पर हिम-समाधि ले ले, चाहे धनकुबेर बनकर लौटे, कन्या रहेगी तो ससुराल ही मे, अतः बेचारे अभिभावक तो कर्तव्यमुक्त हो सकेंगे। पिछले वर्षों जंगबहादुर मजदूरी के लिए आता ही नहीं था, इस वर्ष खेत मे कुछ हुआ नहीं और पत्नी ने पुत्ररत्न उपहार दे डाला। अब तो कुछ न कुछ कमाने का प्रश्न उग्र हो उठा।

जब वह घर से चला तब उसका पुत्र दो मास का हो चुका था पर वह इतना दुर्बल और छोटा था कि पिता उसे गोद मे लेने का भी साहस नही कर सका। अब वह खाने पीने से बची हुई मजदूरी घर ले जाने के लिए जमा कर रहा है और जो कुछ इनाम मे मिल जाता है उससे पुत्र के लिए एक टोपा और कुरता बनाने की इच्छा रखता है। युवती पत्नी ने बार-बार आँखे पोछते-पोछते, फटा आँचल फैला-फैलाकर विनती की थी कि भले आदमी के साथ जाना और बोझ लेकर एक बार से अधिक मत चढ़ाई करना। पिता ने पीठ पर हाथ रखकर और आकाश की ओर धुँधली आँखे उठाकर मानो उसे परमात्मा को सौप दिया था। और माँ तो गाँव की सीमा के बाहर तक रोती-रोती चली आई थी। बड़ी कठिनाई से अनेक

आश्वासन देने पर भी वह लौटी नही वरन् वही एक जरा-जीर्ण पेड़ का सहारा लेकर दृष्टि-पथ से बाहर जाते हुए पुत्र को ऑसुओ के तार से बॉध लेने का निष्फल प्रयत्न करती रही। विदा का यह क्रम तो सनातन था, पर इस वर्ष उस अनुष्ठान मे भाग लेने के लिए विकल पत्नी और मौन पुत्र और बढ गए थे। जगत्बहादुर को परम समर्थ जानकर उसकी विधवा काकी ने भी उसे अपना पुत्र सौप दिया था, इसीसे अब वह ऐसे ही यात्री की खोज मे रहता है जो उन दोनो को साथ ले चले।

जिन्होने, पॉच जल की धाराओ से घिरा और रग-बिरगे फूलों मे छिपे चरणो से लेकर शून्य नीलिमा मे प्रगट मस्तक तक सफेद हिम मे समाधिस्थ केदार का पर्वत देखा है वे ही उसका आकर्षण जान सकते है। मीलो दूर से ही वह उज्ज्वल शिखर अक्षरहीन आमन्त्रण के समान खुला दिखाई देता है। जैसे-जैसे हम उसकी ओर बढते है वह विस्तार मे बढता जाता है और उसकी रजत-विद्युत-लेखाओ के समान झिलमिलाती हुई रेखाये स्पष्टतर होती जाती है। लौटते समय जिस क्षण वह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है उस समय हम एक विचित्र अकेलेपन का अनुभव करते है।

रुद्रप्रयाग पहुॅचकर कुछ साथी इतने थक गए थे कि केदार की इतनी लबी चढाई के लिए साहस न बॉध सके। वास्तव में बदरीनाथ के पर्वत-शिखर से केदार का शिखर केवल ढाई कोस के अन्तर पर स्थित है। पर वहॉ तक पहुॅचने मे नौ दिन का समय लगता है। 'नौ दिन चले अढाई कोस' की कहावत के मूल में सम्भवतः यही सत्य है।

जब मैने वहॉ जाने का निश्चय कर लिया तब विशेष थके साथी रुद्रप्रयाग मे हमारी प्रतीक्षा और विश्राम करके 'एक पंथ दो काज' को चरितार्थ करने के लिए प्रस्तुत हो गए। जाने वालो के सामान के लिए एक कुली पर्याप्त था, अतः दूसरे कुली की समस्या का समाधान आवश्यक हो उठा। मेरी व्यक्तिगत इच्छा थी कि दूसरा कुली भी यात्रियो के साथ विश्राम करे और अट्ठारह दिन के उपरान्त हमारे लौटने पर साथ चले।

पर जगब्रहादुर माँ जी का अठ्ठारह रुपया मुफ्त कैसे ले ले। उसने बहुत सकोच और वरदान-याचक की मुद्रा से जो कहा उसका आशय था कि वह मॉ जी को जान गया है, अतः विश्वासपूर्वक धनसिंह को छोड कर जा सकता है। यहॉ से श्रीनगर पहुँचकर वह नये यात्री की खोज भी करेगा और भाई की प्रतीक्षा भी। सबके लौट आने पर वह धनिया के साथ दूसरी यात्रा करेगा।

जगवीर के स्वार्थत्याग पर कोई काव्य चाहे न लिखा जाय, पर मेरे हृदय मे उसकी स्मृति एक कोमल मधुर कविता है। जब मैंने जंगवीर को अपने साथ चलने का आदेश दिया और धनसिंह को रुद्रप्रयाग मे विश्राम का, तब उसकी ऑखे अधिक सजल हो आई या कण्ठ अधिक गद्गद हो उठा, यह बताना कठिन है। उसने बहुत साहस से लौट जाने का प्रस्ताव किया था, पर हम सब का विछोह सहना उसके लिए कठिन था। कई दिन बाद उसने अपनी अटपटी भाषा मे बताया था 'हम हिंया सरम , अदब से नहीं रोया—फिर दूर जाकर जोड से रोया—सोचा मॉ जी जाता है और हमारे भीतर कैसा-कैसा तो होने लगा।'

वह यात्रा भी समाप्त हो गई और तब एक दिन हम सब को बस पर बैठा कर वे दोनो भाई खोए से खड़े रह गए। जगवीर ने ऑसू रोकने का प्रयास करते-करते कहा, 'मॉ जी, जीता रहना फिर आना, जंगिया का नाम चीठी भेजना।' धनिया सदा के समान पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाए, बीच-बीच में टपकते ऑसुओ की भाषा मे बिदा दे रहा था। आज वे दोनो पर्वतपुत्र कहॉ होंगे सो तो मैं बता ही नहीं सकती—पर उनकी माजी होकर मुझे जो सम्मान मिला यह भी बताना सहज नही।

गोपियों की भगवद्भक्ति

महावीरप्रसाद द्विवेदी

शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजोरहित है। नदियो का औद्धत्य जाता रहा है, वे कृश हो गई है। सरोवर और सरिताएँ निर्मल जल से परिपूर्ण है। जलाशयो मे कमल खिल रहे है। भूमिभाग काशाशुको से शोभित है। वनोपवन हरे-हरे लोल-पल्लवो से आच्छादित है। आकाश स्वच्छ है। कही बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्लवदना देखकर, एक दफे, रात के समय श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी—

> दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डल रमाननाभ नवकु कुमारुणम् ।
> वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कल वामदृशा मनोहरम् ॥

उस दिन शरत्पूर्णिमा थी। श्रीकृष्ण ने देखा, भगवान् निशानायक का बिम्ब अखण्डभाव से उदित है, वह अपनी सोलहो कलाओ से परिपूर्ण है। नवीन कुंकुम के समान उसका अरुण बिम्ब रमा के मुखमण्डल को भी मात कर रहा है। उसकी कोमल किरणमाला वन मे सर्वत्र फैली हुई है। ऐसे उद्दीपनकारी समय मे उन्होने मुरली की मधुर तान छेड दी। उसकी ध्वनि ने गोपियो के मानस को बलात् अपनी ओर खीच लिया। वे उस लोकोत्तर निनाद को सुनकर मोहित हो गई ।

वशी की ध्वनि सुन कर गोपियो की अन्य समस्त इन्द्रियॉ कर्णमय हो गई । अन्य इन्द्रियो के धर्म्म लोप हो गए । अकेली श्रवणेन्द्रिय अक्षुण्ण रही । श्रीकृष्ण के द्वारा बजाई गई वशी की ध्वनि उसे सुन कर गोपियॉ आकुल हो उठी । उन्होने घर के सारे काम छोड दिए । शिशुओ को स्तन्यपान कराना और पतियो की शुश्रूषा करना भी वे भूल गई । वे सहसा घर से निकल पडी और उसी तरफ दौडी जिस तरफ से वह मुग्धकारिणी ध्वनि आ रही थी । आकर उन्होने देखा कि श्रीकृष्णजी अपने नटवर-वेश से खडे वशी बजा रहे हैं । धीरे-धीरे, उनके पास एक दो नही, सैकडों गोपियॉ एकत्र हो गईं । इतनी आतुर होकर, हडबडी मे वे घर से निकल पडी थी कि उन्होने अपने वस्त्राभूषण तक ठीक-ठीक—जिसे जहॉ पर और जिस तरह पहनना चाहिए था—नही पहना था । उन्हे इस तरह आई देख श्रीकृष्ण को फिर एक दिल्लगी सूझी । आपने वशी बजाना बन्द कर दिया और बोले—

स्वागत ! स्वागत ! खूब आई । कहिए, क्या हुआ ? कुशल तो है ? ब्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई ? किसलिए रात को यहॉ आगमन हुआ ?

ज़रा इन प्रश्नो को तो देखिए । स्वागत-सत्कार के ढङ्ग पर तो विचार कीजिए । आप ही ने तो बुलाया और आप ही आने का कारण पूछ रहे है ? यह दिल्लगी नही तो क्या है ? और दिल्लगी भी बडी ही निष्करुण ! बात यही तक रहती तो गनीमत थी । कृष्ण ने तो इसके आगे गोपियो को कुछ उपदेश भी दिया । उपदेश क्या दिया, जले पर नमक छिडका । आपके व्याख्यान का कुछ अश सुनिए—

रात बडी ही भयावनी है । जङ्गल बेहद घना है । हिंस्र जीव इधर-उधर घूम रहे है । भला यह समय भी क्या स्त्रियो के बाहर निकलने का है ? तुम्हारे बाल-बच्चे रोते होगे । तुम्हारे पति, पुत्र, पिता आदि कुटुम्बी तुम्हें ढूँढते होगे । राका-शशि की किरणो से रञ्जित कुसुमित कानन की सैर हो चुकी । रविनन्दिनी यमुना की तरल तरङ्गों की शोभा तुम देख

चुकी। यदि प्रेम-परवशता के कारण मेरे दर्शनार्थ तुम चली आई तो तुम्हारी वह दर्शन-पिपासा भी पूर्ण हो गई। हो चुका। बस, अब तुम पधारो, अपने-अपने घर लौट जावो, जाकर अपने-अपने स्वामियो की शुश्रूषा करो—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोगधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

देखो, अपना पति दुःशील, दुर्भग, वृद्ध, जड, रोगी और निर्धन ही क्यो न हो, स्त्रियो को उसका त्याग कदापि न करना चाहिए। उससे तुम्हारे दोनो लोक विगड जायँगे।

श्रीकृष्ण के इस व्याख्यान पर ध्यान दीजिए और फिर उनके उस प्रश्न पर विचार कीजिए। प्रश्न था कि तुम आई क्यो? इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं ही दे रहे हैं। फिर भी आपने प्रश्न करने की जरूरत समझी! इसी से हम कहते है कि यह सारी दिल्लगी थी—दिल्लगी पर दिल्लगी!

प्रियतम कृष्ण का यह रुख देखकर और उनकी यह प्रश्नावली तथा उपदेशमाला सुनकर गोपियो के होश उड़ गए। उन्हे स्वप्न मे भी यह ख्याल न हुआ होगा कि उनके साथ इतना कठोर वर्ताव किया जायगा। वे थीं अबला। और अबलाओ का विशेष बल होता है रोना और आक्रोश करना, सिसकना और सिर धुनना। उसी का अवलम्ब उन्होने लिया। वे लगी रोने। बडे-बडे आसुओं के साथ, लगा उनकी ऑखो का काजल बहने। मुँह उनके सूख गए। अत्युष्ण श्वासोच्छ्वासो की मार से उनके विम्बाधर कुम्हला गए। बडी देर तक वे अपने पैर के अंगूठों से जमीन कुरेदती हुई ठगी-सी खडी रहीं। हाय बडा धोखा हुआ। यह निष्ठुरता! हमारे अनन्य और निर्व्याज प्रेम का यह बदला! हमने जिसे अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया उसका यह निष्कृप व्यवहार! इसी तरह की बाते उन्होने मन ही मन कीं। भगवान कृष्ण स्वयं ही जान सके होगे कि उनके उस

धर्म्ममूलक ढकोसले की दुहाई ने गोपियों के कमल-कोमल हृदयो पर कितना निष्ठुर वज्रपात किया होगा। खैर, अपने होश किसी तरह थोड़ा-बहुत सँभाल कर उनमें से कुछ प्रगल्भा गोपियो ने कृष्ण के सदुपदेश का इस प्रकार सत्कार किया। वे बोलीं—

सरकार, आप तो बहुत बड़े पण्डित-प्रवर निकले। पण्डित ही नहीं, धर्मशास्त्री भी आप बन बैठे है। हमे आपके इन गुणो की अब तक खबर ही न थी। आपकी इन परम पावन कल्पनाओ का ज्ञान तो हमे आज ही हुआ। प्रार्थना यह है कि आप आदि पुरुष भगवान् को भी जानते है या नही। मोक्ष की इच्छा रखने वाले, मुमुक्षु-जन, अपना घर-द्वार, स्त्री-पुरुष, धन-वैभव, सभी सासारिक पदार्थों का परित्याग कर के जब उनकी शरण जाते है तब, आप ही की तरह, क्या वे भी उन मुमुक्षुओ को वैसा ही शुष्क उपदेश देते हैं जैसा कि आपने हम लोगों को दिया? क्या कभी कोई पुरुष भगवान् के दरबार या द्वार से उसी तरह दुर-दुराया गया है जिस तरह कि आप हमे दुरदुरा रहे हैं? आप को सर्वेश और सर्वात्मा समझ कर ही हम आपकी सेवा मे उपस्थित हुई है। अतएव, हे पण्डित-शिरोमणे, आप हमसे पण्डिताई न छाँटिए। आप अपने पाण्डित्य का सवरण कीजिए। कठोरता के अवतार न बनिए। नृशस वाक्यो को मुख मे न लाइए। समस्त विषयो को तृणवत् समझ कर हम आप के पादपद्म का आश्रय लेने आई हैं। हमे स्वीकार कीजिए। व्यर्थ की बाते न बनाइए। परुषवचनावली और नृशसता आपको शोभा नहीं देती।

हाँ, आपकी एक बात का जवाब रह गया। आपकी धर्मभीरुता हमे बिलकुल नही जँची। मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर आदि धर्मशास्त्रकारो के मत का मनन आपने खूब ही किया मालूम होता है। परन्तु, सरकार, इन ऋषियो से भी बडे नही तो समकक्ष अन्य ऋषियो ने जो कुछ कहा या लिख रक्खा है उस पर आपका ध्यान क्यो नहीं गया? उन्होने तो हाथ उठा-उठा कर, जोरो से, यह कहा है कि जो जिस भाव से भगवान्

की शरण जाता है उसका ग्रहण, वे उसी भाव से करते है। यदि यह ठीक है तो आपके धर्म-शास्त्र हमारे लिए रद्दी नही तो कोरे कागज के टुकडे अवश्य हैं। हमने सुन रक्खा है कि आप ही समस्त प्राणियो की आत्मा है। बता दीजिए यह सच है या झूठ। यदि सच है तो हमारे उस हार्दिक भाव के ग्रहण के लिए भी, जिस पर आपका आक्षेप है, आपके विशाल हृदय मे कुछ स्थान मिल सकता है या नही। बताइए। आप ही इसका निर्णय कर दीजिए।

धर्म्मशास्त्रज्ञ बनकर आपने यही फरमाया है न कि पति, पुत्र, सुहृद और अन्य कुटुम्बियो के विषय मे स्त्रियो को अपना धर्म्म-पालन करना चाहिए—अर्थात् उनके प्रति स्त्रियो का जो कर्तव्य है उससे उन्हे च्युत न होना चाहिए। यही न ? अच्छा तो अब आप यह भी फरमा दीजिए कि जितने देहधारी है उन सबके ईश्वर, उन सबकी आत्मा, उन सब के बन्धु आप ही है या नही ? अगर हैं और अगर दिव्य-दृष्टि वाले ऋषियो का यह सिद्धान्त भी सच है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्," तो बस हो चुका। तो हम अपने पति, पुत्र, सखा और सहोदर आदि की भावनाएँ सब आप ही मे करती है। आप ही हमारे पिता, आप ही हमारे पुत्र, आप ही हमारे पति और आप ही हमारे सब कुछ हो। हमारी भावनाओ पर आप का क्या जोर। हम मिट्टी को यदि सुवर्ण समझ ले, पत्थर को यदि रत्न समझ लें, विष को यदि अमृत मान ले तो इससे किसी का क्या हर्ज ? यदि आप तनुभृज्जनो की आत्मा है—यदि आप घट-घट मे व्यापक है—किसी के पिता, किसी के पति, किसी के पुत्र आप स्वय ही बन चुके तो फिर भला किस युक्ति से आप अपने मे हमारी पति-भावना से छुटकारा पा सकते है ? आप अपनी धर्म्मज्ञता के अम्बर या आडम्बर समेटिए। उसे औरो के लिए रख छोडिए—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्-
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशाभृता त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥

हे कमललोचन, सर्वदर्शी विद्वान् तो आप ही को सबका भोक्ता और सबका ईश्वर समझते है। इसी से आप अन्तर्यामी आत्मा से ही वे प्रेम करते है और उसी को हर तरह नित्यप्रति रिझाने की चेष्टा मे रत रहते है। आपके मुकाबले मे पति, सुत, बन्धु आदि जन कोई चीज नही। उनको रिझाना व्यर्थ ही नही नाना प्रकार के क्लेशो का कारण भी है। जिसने उन्हे रिझाया—जिसने उनसे विशेष प्रेम किया—वह तो भवबन्धन से सर्वथा ही बँध गया। उसका छुटकारा कहाँ? उसके लिए तो आप अपने को दुर्लभ ही समझिए। इससे आप अब दया कीजिए। हम आपको अपना परमाराध्य ईश्वर ही समझ कर आपकी सेवा मे उपस्थित हुई है। आपकी इस प्रकार सेवा करने की लालसा चिरकाल से हमारे हृदय मे जाग्रत है। उसे पूर्ण कर दीजिए। हमारी आशालता के टुकड़े न कर डालिए। हमे निराश न कीजिए। अपने विरुद को सँभालिए। अपना पाण्डित्य और किसी मौके के लिए रख छोड़िए। हम तो अपना सर्वस्व—तन और मन—आपके अर्पण कर चुकी। अतएव अब यथा योग्यं तथा कुरु।

कहने की जरूरत नहीं, गोपियो का अनन्य प्रेम और उनकी निर्व्याज भक्ति देखकर भगवान् कृष्ण ने उनकी सेवा को स्वीकार करके उन्हे कृतकृत्य कर दिया। परन्तु उन्होने उन प्रेयसी गोपियो के साथ दिल्लगी करना फिर भी न छोडा। एक बार, उसी रात को, वे अचानक उनके बीच से अन्तर्धान हो गए। परन्तु यह दूसरा किस्सा है। इससे इसे जाने दीजिए।

श्रीकृष्ण की इस लीला पर कुछ लोगो के द्वारा बड़ी ही कडी टीकाएँ की गई है और अब तक की जाती है। स्वयं पुराणकारो ही ने गोपियों को "व्यभिचारिणी" बताकर फिर उनके इस कलक का परिमार्जन किया

है। इस लीला की असलियत क्या थी, यह जानना तो सर्वथैव असम्भव है। जो कुछ इस विषय में कहा जा सकता है, केवल अनुमान और तर्क ही की सहायता से कहा जा सकता है। पुराणों की रचना चाहे वेदव्यास ने की हो, चाहे बादरायण ने की हो, चाहे कृष्णद्वैपायन ने की हो, चाहे और किसी ने की हो, उनका कर्ता आत्मदर्शी ऋषि न भी हो तो भी बहुत बड़ा पण्डित या ज्ञानी जरूर ही रहा होगा। इस दशा में पुराणोक्तियों का खण्डन करना महज मामूली आदमियों का काम नहीं। फिर भी यदि कोई अनधिकारी पुरुष उन उक्तियों की प्रतिकूलता करने का साहस करेगा तो उसका कथन पागल का प्रलाप समझ लेने में क्या हर्ज ? अतएव कुछ-कुछ इसी तरह का प्रलाप आप सुन लेने की उदारता दिखाइए। श्रीमद् भागवत के कर्ता का कहना है—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

अर्थात् जारबुद्धि से भी श्रीकृष्ण परमात्मा की संगति करने के कारण गोपियों के सांसारिक बन्धन क्षीण हो गए और उन्होंने अपनी गुणमयी देह का त्याग कर दिया। इस पर निवेदन है कि गोपियाँ बहुत पहले ही से कृष्ण को ईश्वर, परमेश्वर, सर्वात्मा, परमात्मा कहती चली आ रही हैं। पुराण-प्रणेता ने स्वयं ही उनके मुँह से ये बातें कहलाई हैं। फिर उनकी जार-बुद्धि कहाँ रही ? वे तो उन्हें परमात्मा ही समझ कर, उनके पास, उनकी सेवा, अपने मनोनुकूल करने के लिए, उपस्थित हुई थीं। परमात्मा होकर भी श्रीकृष्ण जार नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवत में उसके कर्ता ने एक नहीं, अनेक स्थलों में, श्रीकृष्ण को परमपुरुष, आदि पुरुष, परमात्मा आदि शब्दों से याद किया है। परन्तु ऐसे स्थलों में भी उसने बेचारी गोपियों को लगे हाथों व्यभिचारदुष्ट भी कह डालने की कृपा की है।

इन वनवासिनी नारियों के कृष्ण-परमात्मा-विषयक अलौकिक भावों की प्रशंसा करके उन पर लौकिक लाञ्छन का भी आरोप करना कहाँ तक

संगत है, इसका निर्णय यदि कोई ऋषि-मुनि ही करे तो वह सर्वमान्य हो सकता है। हमारी प्रार्थना या निवेदन को तो पाठक हमारा प्रलाप-मात्र समझें। हाँ, एक बात को याद रक्खे। व्यभिचारी शब्द के वि + अभि + चर को ध्यान मे रख कर उसका धात्वर्थ न करें, लोक मे उसका जो अर्थ समझा जाता है वही करे।

पुराणकारो ने श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी परमात्मा जब मान लिया तब भक्तो, प्रणयियो और दास्य भाव से प्रणोदित जनो के लिए क्या उन्होने कुछ ऐसे भी नियम कर दिए है कि तुम उसी भाव से अपने उपास्य या इष्ट-देव की भावना या भक्ति करो ? जहाँ तक हम जानते है, ऐसा तो कोई नियम नहीं। जो भाव जिसे अच्छा लगता है, उसी भाव से वह ईश्वर की अर्चना करता है। कोई उन्हे सखी समझता है, कोई उन्हे स्वामी समझता है, कोई उन्हें बालक समझता है। यहाँ तक कि किसी-किसी ने शत्रुभाव से भी उनकी उपासना की है। इस दशा मे यदि गोपियो ने श्रीकृष्ण को पति-भाव से भजा तो उन पर कलक का आरोप क्यों ? या तो कृष्ण को कोई साधारण मनुग्य समझिए या गोपियो पर वैसा आरोप करना छोडिए। दोनो बातें साथ-साथ नहीं हो सकती। यदि श्रीकृष्ण परमात्मा थे और गोपियो ने उन्हें पति-भाव से ग्रहण किया तो वे सर्वथा निर्दोष ही नहीं, मङ्गलमूर्ति समझी जाने योग्य और समस्त ससार की दृष्टि मे पूजनीय हो चुकी। आप श्रीमद्भागवत को सरसरी ही दृष्टि से पढिए। आप देखेगे कि गोपियो ने अपने इष्टदेव को जहाँ प्रिय, प्रियतम, अङ्ग, सखा इत्यादि शब्दो मे सम्बोधन किया है वहाँ उन्हे वे बराबर ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा भी कहती आई है। अतएव उनके प्रेम के सम्बन्ध मे दुर्भावना के लिए मुतलक ही जगह नहीं। जिस भगवद्-गीता को परम पण्डित भी ससार मे सबसे अधिक महत्व की पुस्तक समझते है उसी मे कृष्ण-भगवान् ने खुद ही कहा है—

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।

परमात्मा होकर कृष्ण जब स्वय ही कह रहे हैं कि जो जिस भाव से मेरा भजन करता है, मै उसे उसी भाव से ग्रहण करता हूँ तब शङ्का और सन्देह के लिए जगह कहाँ ?

अच्छा, इन गोपियो के पिता, पुत्र, पति आदि कुटुम्बी कृष्ण को क्या समझते थे ? जिस कुमार कृष्ण ने बड़े-बडे दैत्यो को न सही, अपने से अनेक गुने बली और पराक्रमी केशी, बक, अघ आदि प्राणियो को पछाड दिया, जिसने कालिय के सदृश महाविषधर विकराल नाग का दर्प-दलन कर दिया, और जिसने गोवर्द्धन-पर्वत को हाथ पर उठा लिया, उसे यदि वे परमात्मा न समझते थे तो कोई बहुत बडा पराक्रमी, प्रभुतावान् और महत्वशाली पुरुष जरूर ही समझते थे। तभी उन्होने अपने कुटुम्ब की स्त्रियो को कृष्ण से प्रेम करते देख उनकी विशेष रोकटोक नही की। यदि करते तो यह कदापि सम्भव न था कि सैकडो स्त्रियाँ उस रात को इस तरह अपने-अपने घरो से वन को दौड जातीं। शायद ही कुछ स्त्रियाँ उस रात को वहाँ जाने से रह गई होगी। अच्छा, जो वहाँ गई उनके लौटने पर भी, उनके सम्बन्ध मे, कोई घटना या दुर्घटना नही हुई। कम से कम पुराणो मे इसका उल्लेख हमारे देखने मे नहीं आया कि उन गोपियो को उनके कुटुम्बियो ने घर से निकाल दिया, उनका त्याग कर दिया, या उन्हे और ही कोई सजा दी। इससे सूचित होता है कि गोपियो के कुटुम्बी भी श्रीकृष्ण को कोई अलौकिक पुरुष नहो तो महात्मा जरूर ही समझते थे। अतएव अपनी स्त्रियो को उनसे प्रेम करते देखकर भी उन्होने उनके उस काम को बुरा नहीं समझा।

परन्तु यदि आप यही मान ले कि गोपियो का व्यवहार लोक-दृष्टि से निन्द्य था तो परलोक-दृष्टि से वह प्रशसनीय ही माना जायगा। भगवद्-भक्त अपनी धुन के पक्के होते है। उन्हे उनके निश्चित मार्ग से कोई हटा नहीं सकता। उन्हें निन्दा और स्तुति की परवा भी नहीं होती। वे रूढ़ि और लोकाचार के दास नही होते। मीरा की क्या कम निन्दा हुई ?

उन पर क्या लाञ्छन नहीं लगाए गए ? उनके कुटुम्बियो ने क्या उनका परित्याग नहीं किया ? परन्तु यह सब होने पर भी मीरा ने यह कहना न छोड़ा—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।

कुछ-कुछ यही दशा तुलसीदास, कबीरदास, चैतन्य, रैदास, पलटू आदि की भी हुई है। जो 'आर्यपथ' कहा जाता है उसे छोडने वाले किस साधु पर कलङ्क नहीं लगा ? कलङ्क लगाने और निष्ठुर आक्षेप करनेवाले कुटुम्बियो का त्याग इन साधुओ ने तृणवत् कर दिया, परन्तु अपने अभीष्ट पथ का परित्याग नही किया। इसी मे इन्होने अपना कल्याण समझा और इनकी यह समझ सर्वथा ठीक भी थी। तुलसीदास ने कहा भी है—

तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु ब्रज बनितन पति त्यागो भे जग-मङ्गलकारी॥

प्रेमी को पूरा अधिकार है कि वह अपने उपास्यदेव का आराधन जिस भाव से चाहे करे। ज्ञानयोग और राजयोग आदि के द्वारा भगवान् का सान्निध्य या मोक्ष प्राप्त कर लेना साधारण साधको का काम नहीं। वह मार्ग बहुत कठिन है। पर प्रेम और भक्ति का मार्ग सुलभ और सुख-साध्य है। आप शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र देखिए। उसमे इस मार्ग की कितनी महिमा गाई गई है। इनके लिए वही साधना उपयुक्त थी जिसका आश्रय इन्होने लिया। अतएव ये कल्याणी गोपिकाएँ ज्ञानियों और योगियो के भी वन्दन और प्रणमन की पात्र है।

ब्रज छोड आने पर एक बार श्रीकृष्ण ने इन गोपियो का समाचार जानना चाहा। एतदर्थ उन्होंने उद्धव को चुना। उन्हीं उद्धव को जिन्होने श्रीमद्भागवत के ग्यारहवे स्कन्ध मे बेढब वेदान्त बूँका है और महाभारत मे राजनीति पर बड़े-बड़े लेक्चर झाड़े हैं। आप अपनी ज्ञान-गरिमा की गठरी बाँध कर ब्रज पहुँचे और लगे गोपियो को ज्ञानोपदेश करने। परन्तु वहाँ गोपियो ने उन्हे इतनी कड़ी फटकार बताई कि उनका ज्ञान-सागर

बिलकुल ही सूख गया। गोपियो के प्रेम की आँधी मे उनका ज्ञानयोग यहाँ तक उड़ गया कि वे उलटा उन्हीं 'व्यभिचारदुष्ट' वनचरी नारियों के चेले हो गए। उन्हे अन्त मे भगवान् से प्रार्थना करनी पडी। उन्होने कहा—

इन गोपियों के चरणों की रज वृन्दावन के जिन पेड़-पौधो और लता-गुल्मादिको पर पड़ती है वे धन्य हैं—उनके सदृश पावन और कोई चीज नहीं। ये गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं। अपने दुस्त्यज कुटुम्बियो और सर्व-सम्मत तथा परम्परागत पथ का परित्याग करके ये उस पथ से चलनेवाली है जिसे श्रुतियाँ ढूँढ़ती फिरती है, पर उन्हें नहीं मिलता ' इसी पथ की बदौलत ये भगवान् की पदवी को प्राप्त करने मे समर्थ हुई है। अतएव मेरी कामना है कि मैं इसी ब्रज के किसी पेड, पौधे, लता या गुल्म के रूप मे कभी जन्म लेकर अपने को कृतार्थ करूँ। उद्धव की यह उक्ति सुनकर कौन ऐसा भगवत्प्रेमी है जिसका शरीर कण्टकित और कण्ठ गद्गद न हो जाय ?

हमने अपने इस जन्म मे न तो कभी साधु-समागम किया, न किसी सुकृत ही का सम्पादन किया और न किसी तरह का और ही कोई सत्कर्म किया। इस कारण उद्धव के सदृश कामना करने के हम अधिकारी नहीं। अतएव, हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि यदि पूर्वजन्मो मे हमने कभी कोई सत्कार्य्य किया हो तो भगवान् हमे ब्रजमण्डल के किसी करील का काँटा ही बना देने की कृपा करें।

एक चरित्र

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

तरुणावस्था मे प्रेम का उन्माद-रोग तो सभी नवयुवको को हो जाता है, पर सभी के जीवन मे प्रेम की विलक्षण घटनाएँ नही होती। अधिकाश की प्रेम-भावना उनके गृह-जीवन मे ही समाप्त हो जाती है। अपने नगर मे विशुद्ध प्रेम या ममता के यथार्थ रूप को मैंने एक व्यक्ति मे पाया। वह पहलवान था। प्रतापगढ़ से आया था। सबसे पहले मैने उसको रामबख्श भक्त के विश्राम-गृह मे देखा। उसके शरीर की सुदृढ़ गठन देख कर सभी हठात् उसकी ओर आकृष्ट हो जाते थे। उसमे जहाँ तेज था, वहाँ सरलता भी थी, उसमे जैसी शक्ति थी, वैसी सहनशीलता भी थी। क्रोध तो उसमे था ही नही। चिन्ता को वह जानता ही न था। ऐसा जान पडता था कि वह बिलकुल निर्द्वन्द्व, निर्विकार था।

वह चुपचाप चाय पी रहा था। उसी समय एक दुबले-पतले युवक ने आकर उसे खूब झिड़क कर कहा—'वाह, उस्ताद, तुम यहाँ बैठे चाय पी रहे हो। मै तुम्हे कितनी देर से खोज रहा हूँ, उठो।'

उसने नम्रतापूर्वक कहा—'चलता हूँ भैया, जरा आराम से चाय तो पी लूँ।'

वह युवक उसके उत्तर से और भी क्रुद्ध हो गया। दोनो में विवाद-सा होने लगा। बात ही बात में उस दुबले-पतले युवक ने आवेश मे आकर कहा 'चलते हो या यो ही बातें बनाओगे, ऐसा खीचकर थप्पड दूँगा कि फिर तुम बाते करना भूल जाओगे।'

उसकी यह अचिन्तनीय बात सुनकर मै हँस पडा। उसकी वह उक्ति सचमुच उपहासास्पद थी। कहाँ वह मच्छड और कहाँ वह हाथी। परन्तु उस दुर्बल युवक ने अपनी दुर्बलता का जरा भी विचार नही किया। वह सचमुच क्रोध से उठ खडा हुआ, मुझको हँसते देखकर वह कुछ सहम-सा गया और तब वह पहलवान भी हँसने लगा। फिर उसने कहा— 'चल भैया चल, तुझसे लडकर सचमुच नहीं जीत सकता।'

इसके बाद रामबख्श की दूकान पर पहलवान से प्रायः प्रतिदिन ही भेंट हो जाती थी। मुझको यह देखकर बडा आश्चर्य होता कि वह मान-अपमान, प्रशसा-निन्दा, किसी की भी परवाह नहीं करता था। वह सभी से हँसकर बाते करता था। सभी की बाते सुन लेता था और सभी के काम करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। अपनी शक्ति के कारण वह निर्बलो के प्रति सहिष्णु था। उनके अत्याचारों तक को वह चुपचाप सह लेता था। उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता बनी रहती थी।

एक बार बाहर से एक प्रसिद्ध पहलवान आया। उसके साथ उसकी कुश्ती हुई। उसने उस पहलवान को पछाड दिया। लोगो ने उसकी बडी प्रशंसा की, परन्तु उसने उत्तर दिया—'जो लडता है, वह कभी हारता है और कभी जीतता है। इसमे न कोई प्रशसा की बात है और न निंन्दा की ही। अगर मै हार गया होता तो जान पडता है कि जगह-जगह तुम लोग मेरी निन्दा करते-फिरते।

उसकी यह बात सुनकर उसके सभी प्रशसा करने वाले चुप हो गए। कुछ को बुरा लगा पर वह निश्चिन्त होकर चाय पीने लगा।

एक दिन आकर उसने मुझसे कहा—'मास्टर साहब, यह कागज तो देखिए। इसमे क्या लिखा है?' मैंने उस कागज को पढ़ा। पढने पर मालूम हुआ कि कप्तान साहब उस पर बहुत अप्रसन्न हो गये हैं। ऐसा जान पडता था कि वह नौकरी से हटा दिया जायगा। सारी बाते जान लेने के बाद उसने उस कागज को फाड दिया और कहने लगा—'जितना काम मैं कर सकता हूँ उतना मै करता ही हूँ। अगर मेरे अफसर सतुष्ट न हो तो मैं कर ही क्या सकता हूँ?' यह कह कर उसने रामबख्श से कहा—'रामबख्श चाय दो'—और वह प्रसन्नचित्त होकर चाय पीने लगा।

दो-चार दिनो के बाद फिर पहलवान ने मुझको एक कार्ड दिखलाया। वह कार्ड उसके भाई ने देश से लिखवा कर भेजा था। उससे पता चला कि घर की स्थिति खराब हो गई है। उसके भाई को बड़ी चिन्ता है, वह कष्ट मे है। वह चाहता है कि उसका भाई कुछ दिनो के लिए घर आ जाय और वहाँ आकर कुछ प्रबन्ध कर दे। पहलवान ने सब बातें सुन, मुझको इसका उत्तर लिख देने को कहा। उसने जो उत्तर लिखाया उसका मर्म यह था कि ससार मे सभी जगह सुख और दुःख है। हमे सुख भी होते है और दुःख भी। इतने दिनो तक हम सुख मे थे, अब कुछ समय के लिए यदि दुःख भी भोगना पडे तो इसमे कौन सी अचरज की बात है। यह चिन्ता की बात नही! जैसी स्थिति है, तुम्हे वैसा ही काम करना चाहिए। यह उत्तर लिखा कर बडी निश्चिन्तता से उसने रामबख्श को चाय लाने के लिए कहा। फिर वह चाय पीने लगा।

कुछ दिन और व्यतीत हो गए। इसके बाद भेट होने पर उसने मुझसे कहा—'मास्टर साहब, आपको फिर एक खत लिखना पडेगा। फिर एक नई विपत्ति आ गई है।'

मैंने सहानुभूति के स्वर मे पूछा—'कैसी विपत्ति है?' उसने हँसकर कहा—'मेरी माँ मृत्यु-शैय्या पर है। कौन जाने इस पत्र का उत्तर जाने तक वह जीवित रहेगी कि नही?'

मैंने कहा—'सचमुच यह बडी विपत्ति की बात है। आप छुट्टी लेकर घर चले जाइये और कम से कम माँ के अन्तिम दर्शन तो कर लीजिए।'

उसने कहा—'यदि माँ का दर्शन मेरे भाग्य मे रहता, तो गाँव से इतनी दूर अपने जीवन-निर्वाह के लिए आना ही क्यो पडता? क्या किया जाय? मेरे भाई वही है, वही मेरी माँ की सेवा करते होगे। किसकी माँ, कब तक किसका साथ देगी? उसने मेरा पालन-पोषण कर इतना बड़ा बना दिया। अब मै भटक रहा हूँ तो अपने भाग्य से। आप मेरे लिए एक कार्ड लिख दीजिए।'

मैंने उसके कहने से जो कुछ लिखा, उसका सार यह था—'ससार मे किसी के माता-पिता सदैव जीवित नही रहते, इसी लिए उसे यह सुनकर दुःख नही हुआ कि अब उसकी माता का अन्तिम काल उपस्थित हो गया है। माँ का अन्तिम दर्शन करना मेरे भाग्य मे नही था।'

इसी प्रकार सभी भाँति की आपत्तियो को वह हँसते-हँसते टाल देता था। उसके लिए अर्थ कष्ट तुच्छ था। मृत्यु एक स्वाभाविक घटना थी, जीवन एक खेल था। मुझको यही प्रतीत होता था कि काल के सभी आघात उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नही डाल सकते। उसने मानो मृत्यु के विरुद्ध एक अभेद्य कवच पहन लिया था। सभी सकट उसके लिए नगण्य थे, सभी कष्ट उसके लिए उपेक्षणीय थे और सभी अवस्थाएँ उसके लिए अच्छी थी। वह एक काम से हट कर दूसरे काम मे लगा पर उसे न हर्ष हुआ न विषाद। वह हेड कानिस्टबिल बन गया, पर उसने अपनी दिनचर्या नही बदली। वह जैसा पहले रहता था, वैसे अब भी रहने लगा। अफसरो की कृपा या अकृपा उसे विचलित नही करती थी। किसी प्रकार की बाधा या विघ्न उसके जीवन मे क्षोभ ला ही नही सकते थे।

परन्तु एक दिन जब मै प्रातःकाल रामबख्श की दूकान मे गया, तब मैंने उसको अत्यंत विषण्ण देखा। वह बिलकुल चुप बैठा था। किसी की

ओर उसकी दृष्टि नहीं थी। उसके चेहरे पर किसी गभीर वेदना का भाव झलक रहा था। ऐसा जान पडता था मानो वह अपना सर्वस्व खो बैठा है, मानो अब उसमे कोई उमंग नही, कोई लालसा, उत्साह या तेज नही है।

मैने घबड़ाहट के साथ पूछा—'पहलवान जी, आप कुशलपूर्वक तो है न?'

उसने नैराश्यपूर्ण स्वर मे उत्तर दिया—'जी हॉ, मै अच्छी तरह हूॅ।

मैने फिर पूछा—'घर मे सब अच्छी तरह से तो है? कोई बुरी खबर तो नही आई है?'

उसने उत्तर दिया—'सब अच्छी तरह है। क्या कोई बुरी खबर आयगी?'

मैने कहा—'पर आज आप बहुत उदास है? क्या बात हुई? कोई झंझट बखेडा तो नही हुआ?'

उसने कहा—'कोई बात नहीं हुई है।'

मैने कहा—'तब आप इस तरह उदास क्यो बैठे है?'

उसने एक दीर्घ निश्वास लेकर कहा—'क्या कहूॅ, मै तो अपना सर्वस्व खो बैठा हूॅ।' मैने विस्मित होकर पूछा क्या बात हुई?'

वह कहने लगा—'मेरा तीतर न जाने कहॉ चला गया है! न जाने कौन जानवर उसे उठाकर ले गया, कुछ पता नही चलता। उसका पिंजडा खाली है। सभी जगह ढूॅढ डाला। कितने ही वर्षों से वही एक मेरा साथी है। भगवान् जाने वह कहॉ है? मै इसी चिन्ता मे व्याकुल हूॅ।"

मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'मिल जायगा, इधर-उधर कहीं होगा, आप घबराइए मत।'

मैने फिर रामबख्श को चाय लाने के लिए कहा, परन्तु उसने कहा—'मास्टर साहब, मै आज चाय नही पी सकता। मै आज काम पर भी नहीं गया हूॅ। मेरा मन बडा अधीर हो रहा है।'

यह कहकर वह उठकर चला गया। मै भी चाय पीकर घर चला गया। फिर खा-पीकर मै स्कूल चला गया। अपने ही कार्य मे व्यग्र रहने के कारण मुझे उस पहलवान के दुःख की बात याद ही नहीं रही। एक बजे जब छुट्टी हुई तब दौड़ता हुआ वह पहलवान स्कूल आया। ज्यों ही उसने मुझको देखा त्यो ही चिल्ला उठा—'मास्टर साहब, मिल गया। मेरा तीतर मिल गया, मै आपको खबर देने आया हूँ।'

मैने देखा—उसके चेहरे पर आनन्द की अपूर्व ज्योति थी। उसने अपनी अमूल्य-निधि पा ली थी। उसे अपना खोया धन मिल गया था। तब उसे क्यो न आनन्द होगा? ससार की सभी स्पृहणीय वस्तुओ को उसने उपेक्षणीय समझ लिया था। उसकी सारी कामनाएँ एक तीतर मे बद्ध थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना के लिए युग-प्रवर्तक कार्य कर गए है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी-आलोचना अपने नये रूप मे अवतरित नही हुई थी। तब तक वह लक्षण ग्रन्थो मे रसो, अलङ्कारो, नायको और विशेषकर नायिकाओ की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे, मै यह मानता हूँ कि रस और अलकार, नायक और नायिका—साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्त्व ये ही है पर जिन लक्षण-ग्रन्थो की बात मैं कह रहा हूँ उनमे इन तत्वो की मीमासा बहुत ही स्थूल रूप से की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक-शास्त्र अथवा साहित्यिक-अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रन्थो से नही सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पहचान तक ये नही करा सके। फिर इन्हे आलोचना-ग्रन्थ किस अर्थ मे कहा जाय, यह भी एक समस्या ही है।

उदाहरण के लिए लक्षण-ग्रन्थो मे उल्लेख किए गए किसी भी रस के एक प्रसग को ले लीजिए। मान ले हम 'शृङ्गार-रस' का कोई प्रसग लेते है। लक्षण-ग्रन्थ द्वारा हम यह तो जान गए कि उक्त उद्धरण शृङ्गाररस का है। किन्तु वह रस छिछले अथवा कितने सौम्य-शृङ्गार का

है इसकी तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण-ग्रन्थो मे नहीं पाते। दूसरी बात यह कि उस 'रस'-विशेष की अभिव्यञ्जना कितनी शक्ति पूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है यह कलात्मक विवेचना भी उनमें कम ही दिखाई देती है। तीसरी बात यह कि उस छिछले अथवा सौम्य-शृङ्गार की सामाजिक पृष्ठ-भूमि क्या है—किन परिस्थितियो की वह प्रतिक्रिया है और सामाजिक जीवन पर वह किस प्रकार का असर डालेगा, इसके जानने का भी कोई साधन नही रहता। चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार की अपनी मानसिक स्थिति का भी हमे पता नही लगता। आलोचना के ये ही प्रधान सूत्र है और लक्षण-ग्रन्थो मे इन्हीं का अभाव था।

साहित्यिक ह्रास के युग मे आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी वही इन लक्षण-ग्रन्थो की भी। दोनो ही सस्कारहीन, परपराबद्ध और अन्तर्दृष्टिरहित हो रहे थे।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी मे प्रस्तुत किए गए उन्हे देखते हुए यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग मे सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति मे परिवर्तन हो चला। आँखे खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द मे नहीं है, यह तो मानव-सवेदना के विस्तार मे है। नायक-नायिका कवि जी की कल्पना मे निर्माण होने के लिए नहीं हैं। प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियो और सुख-दुःख की तरङ्गो मे डूबने-उतराने और धुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई मे है, शब्दकोष के पन्ने उलटने मे नही।

यह प्रकाश हमे इस बार पश्चिम से मिला। सुनने मे यह बात आश्चर्य-जनक मालूम होती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाई जी के 'मानस' का एक

धार्मिक ग्रन्थ के रूप मे आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या उसके पीछे भी हमारे साहित्य मे ऐसे 'अन्वेषको' की कमी नही रही जिन्होने बिहारी की होड मे 'देव' को तो ला रक्खा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयो ने इन अन्वेषको को सम्मानपूर्ण डिग्रियाँ भी दी है। रीतियुग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी प्रतिनिधि है।

ठीक इसके विपरीत प० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य मे रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियो के मुकाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण जी के काव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष वाद अथवा विचारधारा का काव्य मे प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के प्रगतिशील आलोचको का भी ऐसा ही मत है। यह विचारधारा या वाद काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है या नही, यह वे नही देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किए जाने पर भी विश्वविद्यालयो ने उन्हे सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे में बन्द नही रहती। यद्यपि द्विवेदी जी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बडे आचार्य थे पर साहित्य मे भी उनकी पैनी निगाह पहुँच कर ही रही।

इस समय के आसपास प० पद्मसिह शर्मा भी आलोचना के क्षेत्र मे आए। शर्मा जी 'बिहारी' की काव्यकला के बडे प्रशसक थे। वे उर्दू-फारसी के भी पण्डित थे और हिन्दी मे यदि उन्हे उर्दू-फारसी का मुकाबला कर सकने वाला काव्य-चमत्कार कही मिल सकता था तो बिहारी मे ही। पर

काव्य-चमत्कार ही काव्य नहीं है, शर्मा जी इस बात से अपरिचित नही थे, उनमे इतनी भावुकता और रसज्ञता थी कि इन दोनो के अन्तर को समझ सके। तो भी उनका झुकाव चमत्कार और काव्यसज्जा की ओर अधिक था। उनकी शक्ति इस बात मे थी कि उनकी निगाह अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या अलंकार पर हठात् जा टिकती थी। उनकी कमजोरी इस बात में थी कि उस सौंदर्य का परिचय कराने के लिए उनके पास 'कलम तोड दी' वाली शैली का ही सहारा था। पर इसमे सन्देह नही कि वे अभिव्यञ्जना-सौंदर्य के अद्‌भुत पारखी थे।

काव्य अथवा कला का संपूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यञ्जना ही काव्य नही है। काव्य अभिव्यञ्जना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानस-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है। किन्तु शर्माजी प्रकाशन से ही नही प्रकाश से भी जानकारी रखते थे, यह बात उनके लेखो से यत्र-तत्र प्रकट होती है। विशेषकर आधुनिक कवियों के सम्बन्ध मे लिखते हुए उन्होने अपनी यह योग्यता प्रकट की है।

हमारे कितने ही नये समीक्षक ज्ञात या अज्ञात रूप से शर्मा जी के ही रास्ते पर चल रहे है। नये कवियो के उद्धरण दे-देकर कुछ नपे तुले वाक्यो मे प्रशंसा कर देने तक ही उनकी समीक्षा सीमित है। शर्मा जी से वे किसी भी अर्थ मे आगे नही बढ सके हैं, पर उनका उपहास करने मे वे बहुत आगे है।

इसी समय मेरे गुरुदेव अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमे साहित्य सम्बन्धी कुछ सैद्धान्तिक व्याख्या मे, मनोवैज्ञानिक निरूपण और व्यावहारिक (साहित्य-तन्त्र विषयक) निर्देश किए गए थे। इस ग्रन्थ का बडा ही मार्मिक प्रभाव हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र पर पडा।

हिन्दी-आलोचना की इसी आरम्भक किन्तु नवचेतन अवस्था मे पं० रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होने रस और अलकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी-समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दो मे शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नही, उन्होने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्लजी ने 'रस और अलकार' आदिको को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप मे न रहने देकर उन्हे नवीन प्राणो से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवन सौंदर्य का पर्याय बनाकर 'रस और अलकार' पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियो को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौन्दर्य के साथ 'रस और अलकार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक सवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गए कि रसों और अलंकारो का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्लजी ने अपनी उच्च काव्यभावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियो की ही प्रयोगात्मक समीक्षा की ओर प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहें। उत्थानमूलक, आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियो से सपृक्त होना पडा है। यहाँ शुक्लजी ने अपने समीक्षा सम्बन्धी पैमानो का प्रयोग अधिकतर इतनी

सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य-निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्ल जी ने अपनी काव्यमाप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भाव-संवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है। इसी के फलस्वरूप उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियों अथवा अल्प-अधिकारियों को उचित से अधिक महत्व देना पड़ा है।

संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होनेवाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।

शुक्लजी में उच्च कोटि की काव्य-रसज्ञता थी, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही उनकी कुछ निजी रुचियाँ और आग्रह भी थे जिन्हें उन्होंने दबाया नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें आलोचना के साथ-साथ रचनात्मक प्रेरणाएँ भी बड़ी प्रमुख थीं। स्वतन्त्र रचना के लिए स्वतन्त्र अभिरुचि का होना आवश्यक है किन्तु काव्य-समीक्षक को अधिक से अधिक निष्पक्ष होना चाहिए। साहित्य के वैज्ञानिक अनुसन्धान-कार्य के लिए यह निष्पक्षता बहुत आवश्यक है।

रचनाकार और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुंजाइश नहीं। उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी।

यहाँ पूरी तटस्थता से हमारा मतलब निर्विकल्प या Absolute तटस्थता से नहीं है वह तो सम्भव नही है। समीक्षक अपने बाहरी (सामाजिक) और भीतरी (व्यक्तिगत) सस्कारो से बरी नही हो सकता। वह एक समय और एक वर्ग का लगाव छोड नही सकता। यहाँ तटस्थता से मेरा मतलब यह नहीं कि वह अपनी सामाजिक और सस्कार-जन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नही है। इससे तो समीक्षक के अपने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। मेरा मतलब सिर्फ यह है कि इन व्यक्तिगत पहलुओ के होते हुए भी जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है, समीक्षक को तटस्थता कायम रखनी चाहिए।

समीक्षा की तटस्थता से यह आशय न निकालना चाहिए कि उस समीक्षा का सामाजिक सम्पर्क छूटा हुआ है। मै इस सम्पर्क का लेख के आरम्भ मे ही आग्रह कर चुका हूँ और यह सम्पर्क छूट जाने से लक्षण-ग्रन्थो के द्वारा समीक्षा-क्षेत्र की जो दुर्दशा हुई उसका भी उल्लेख कर आया हूँ। शुक्लजी की काव्य-समीक्षा मे बडे समारोह के साथ इस सामाजिक सम्पर्क का आवाहन है। यह हिन्दी-आलोचना के लिए बडे महत्व की बात सिद्ध हुई। बल्कि मै तो यह कहूँगा कि नव्यतर सामाजिक प्रगति से (विशेषतः राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध न रहने के कारण शुक्लजी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियो से उतना अधिक तादात्म्य नही स्थापित कर सके जितना उनके जैसे इस क्षेत्र के अधिनायक से आशा की जाती थी।

युग की संवेदनाओ से समीक्षा का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियो और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादो की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य मे अपनाई गयी है, उनका जब तक परिचय नही, तब तक साहित्य का मूल्याङ्कन क्या होगा?

किन्तु घनिष्ठ-से-घनिष्ठ परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है। यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।

जिस प्रकार शुक्लजी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज उठाई उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की व्यक्तिगत मन-स्थिति का भी हवाला दिया है। रचयिता की मन-स्थिति का पता लगाना आधुनिक काव्य-विवेचन आवश्यक समझता है। इसके लिए काव्यालोचक आज मनोविश्लेषण-विज्ञान की भरपूर सहायता लेना चाहते हैं। शुक्ल जी के समय यह विज्ञान हिन्दी में कम व्यवहृत हुआ। इसका व्यवहार बड़ी विशेषज्ञता की अपेक्षा रखता है। रचनाकार के काव्यनिर्माण में उसके व्यक्तिगत संस्कारों का हाथ रहता है। वे संस्कार किस हद तक उसके काव्य को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं, यह प्रत्येक समीक्षक जानना चाहेगा। किन्तु इसे जानने के साधन उतने आसान नहीं हैं जितना हम अक्सर समझा करते हैं। शुक्ल जी ने इस दिशा में आरंभिक कार्य का सूत्रपात कर दिया था।

रचनाकार की मानसिक स्थिति का विश्लेषण उसके द्वारा निर्माण किये गए काव्यात्मक चरित्रों के आधार पर भी किया जाता है। कोई भी साहित्यिक रचना पढ़ने पर रचयिता के विचारों, उसकी मनोभावना और मूल-प्रेरणा का सामान्य रूप से अन्दाजा लग जाता है और मनोविश्लेषण शास्त्र द्वारा उस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है। किन्तु यदि रचनाकार के साथ अन्याय नहीं करना है तो बहुत अधिक सतर्कता के साथ हमें निर्णय करना होगा।

शुक्ल जी बहुत अधिक वादों के पक्षपाती नहीं थे। यूरोप के साहित्यिक क्षेत्रों में जो शीघ्र-शीघ्र वाद परिवर्तन होते रहे हैं उन पर शुक्ल जी की आस्था नहीं थी। वे उन्हें बदलते हुए फैशन जैसी चीज समझते थे। उनका ऐसा समझना एक दृष्टि से ठीक भी है। पर इस विषय में एक दूसरी दृष्टि भी है, वह यह कि यूरोप का साहित्य अतिशय समृद्ध

साहित्य है। वहाँ नई-नई कला-शैलियों का आविर्भाव और प्रचार होना स्वाभाविक है। प्रत्येक साहित्य अपनी समृद्धि की अवस्था में बहुविध वेश-विन्यास करेगा ही, यह उसका अनिवार्य गुण है। तब देखना यह होगा कि कहाँ वह केवल फैशन बन कर रह गया है और कहाँ उसमें गहराई आई है।

ठेठ कला अथवा रचना-प्रणाली की मीमासा अभी हमारे साहित्य मे बहुत कम हुई है। यह साहित्यिक विवेचन का एक प्रधान अङ्ग करीब-करीब सूना पडा है। यहाँ रचना-प्रणाली से हमारा मतलब भाषा-शैली से नहीं है; बल्कि उस कारीगरी से है जो साहित्य को सौदर्य या कला की वस्तु बनाती है।

जिस प्रकार अनेक काव्यवादो की उलझन मे शुक्ल जी नहीं पडे, उसी प्रकार सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र की विचारधाराओ की उन्होने उपेक्षा की। कुछ लोग इसी कारण उन्हे कोरा साहित्यिक घोषित करते है। वे इसे उनकी एक प्रधान त्रुटि भी ठहराते हैं और उनका कहना है कि इसी कारण शुक्ल जी वास्तविक अर्थ मे हमारे आधुनिक साहित्य का नेतृत्व नही कर सके। इस सम्बन्ध मे हमे दो बाते कहनी है। एक यह कि शुक्ल जी की एक विशेष समाजनीति अथवा सामाजिक सिद्धान्त (जिसमे राजनीति भी सम्मिलित है) अवश्य था। सम्भव है वह सिद्धान्त अपनी पूरी रूप-रेखा के साथ उपस्थित न किया गया हो पर उसका एक सामान्य रेखा-चित्र हमे शुक्ल जी की सभी मुख्य रचनाओ मे मिलता है। बल्कि कहीं-कही तो उसका पिष्टपेषण खटकने भी लगता है। वह सिद्धान्त क्या है, इसे शुक्ल जी के सभी पाठक जानते है। उसे उन्होने लोकधर्म का सिद्धान्त कहा है और भारतीय वर्णाश्रम धर्म के साँचे के अन्तर्गत उसे ढालने की चेष्टा की है। वर्णाश्रम धर्म से शुक्ल जी का आशय हिन्दू धर्म से नही है बल्कि किसी भी ऐसे सामाजिक सङ्गठन से है जिसमे कर्तव्यो और अधिकारो के सामजस्य और समीकरण की चेष्टा की गई हो।

शुक्ल जी का लोक-धर्म का सिद्धान्त मध्यवर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओं से ओत-प्रोत है जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी। अपने स्वाभाविक गाम्भीर्य के कारण शुक्ल जी 'रामचरितमानस' के महाकाव्योचित प्रसङ्गों में रम गये थे। इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि आधुनिक समय के लिए उनकी कोई चिन्तना नहीं थी।

दूसरी बात यह है कि आज की हमारी विचारणा वर्गों के आधार पर आ ठहरी है। इसके पहले वह राष्ट्रीयता के आधार पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशों में स्थित है। शुक्ल जी के विचारों में हिन्दू-समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्ल जी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है, यह एक दूसरा प्रश्न है। वह कहाँ तक नई विचारधारा और शब्दावली से मेल खाती है, यह और भी अलग प्रश्न है।

यदि शुक्ल जी में अपने समय और समाज की सीमाएँ हैं तो सवाल यह है कि इन सीमाओं से बचा कौन है? महत्त्व सीमाओं का नहीं है महत्त्व है सीमाओं के भीतर किए गए काम का। शुक्ल जी ने अपने समय की एक अर्द्धजाग्रत-साहित्य-चेतना को दिशाज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंजिल तय किए। विपर्यस्त लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा को साहित्य-शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया, उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया। अपने उच्चकोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप वे साहित्य पर छोड़ गए है। प्रांजलता और महाकाव्योचित औदात्त्य के लिए यह युग शुक्ल जी को स्मरण करेगा। साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सबसे बड़ी बात शुक्ल जी में यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सके। यह उनका पहला काम था। तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी-आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। यह भित्ति इतनी मजबूत है जितनी भारत की किसी भी

प्रान्तीय भाषा की भित्ति हो सकती है। शुक्लजी की सबसे बडी विशेषता है समीक्षा के सब अगो का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं मे समीक्षा के किसी एक अग को लेकर शुक्ल जी की टक्कर लेनेवाले अथवा उनसे विशेषता रखने वाले समीक्षक मिल सकते है पर सब अगो का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है, मै नहीं जानता। जितना उत्कर्ष उन्हे साहित्य के सिद्धान्तो का निरूपण करने मे प्राप्त हुआ उतनी ही दक्षता उन्हे उन सिद्धान्तो का व्यावहारिक प्रयोग करने मे हासिल हुई। पाडित्य मे उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमे विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षकमात्र नही थे, सच्चे अर्थ मे साहित्य के आचार्य थे।

समीक्षक की हैसियत से शुक्ल जी का आदर्श बहुत ऊँचा है और उनका एक सदेश है जिसे आज के समीक्षको को स्मरण रखना चाहिए। वह सन्देश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए बल्कि वह सब अङ्गो को ध्यान मे रखकर की जानी चाहिए। आज हिन्दी मे जो कोई समीक्षा के जिस किसी कोने को पकड पाता है उसे ही खींच चलता है। यह समझने की जरूरत नही समझी जाती कि इस खीच-तान से साहित्य का कोई लाभ नहीं है, बल्कि इससे साधारण पाठको मे भ्रम ही फैला करता है। शुक्ल जी ने इस प्रवृत्ति को साहित्यिक कनकौआ उडाना कहा है, और उन्होने इसका ठीक ही नामकरण किया है। यह प्रवृत्ति हमे साहित्य की समीक्षा मे बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती, साहित्य की अन्तरात्मा के दर्शन तो करा ही नही सकती। शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नए युग के विधायक थे। यद्यपि हम यह कहेगे कि शुक्ल जी की व्यक्तिगत अभिरुचियो और धारणाओ ने विशुद्ध काव्यालोचन मे सदैव सहायता ही नहीं पहुँचाई, अनेक बार अडचने भी डालीं और शुक्ल जी की समीक्षा मे युग की सीमाएँ भी स्वभावतः मौजूद हैं।

———

अहल्या-उद्धार की कथा का विकास

डा० धीरेन्द्र वर्मा

पौराणिक कथाओ के विकास का इतिहास बडा रोचक है। उदाहरण के लिए यहाँ अहल्या-उद्धार की कथा के भिन्न-भिन्न रूप दिए जा रहे है। विश्वास है, पाठकगण विकास की दृष्टि से इन्हे अत्यन्त रोचक पाएँगे।

अहल्या की कथा का सबसे प्रथम उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथो[1] मे आता है। शतपथ-ब्राह्मण मे एक स्थान पर इन्द्र को "अहल्यायै जार" (III,३,४,१८) कहा गया है। षड्विंश-ब्राह्मण (१,१) मे "अहल्यायै जार" की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि इन्द्र अहल्या-मैत्रेयी का जार था। जैमिनीय ब्राह्मण (२,७९) मे भी इसी प्रकार का एक उल्लेख मिलता है। किन्तु अहल्या की कथा का विस्तार-पूर्वक वर्णन ब्राह्मण ग्रंथो मे नहीं मिलता। अहल्या-उद्धार का तो बिलकुल उल्लेख नहीं है।

अहल्या-उद्धार की कथा का पहला विस्तृत वर्णन[2] वाल्मीकि-रामायण (बालकाड,सर्ग ४८-४९) मे मिलता है। वाल्मीकि की कथा का सार इस प्रकार है—

(१) देखिए, कीथ-मैकडानेल के वैदिक इंडेक्स में "अहल्या-मैत्रेयी"।

(२) बाबू शिवनंदनसहाय द्वारा विरचित गोस्वामी तुलसीदास के जीवनचरित्र (पृष्ठ ४०४-४०५) में इस विषय का प्रथम उल्लेख किया गया है।

मिथिला के उपवन मे एक पुराने, निर्जन किंतु रम्य आश्रम को देखकर रामचन्द्र ने विश्वामित्र से पूछा कि भगवन्! यह किसका आश्रम था और अब क्यो खाली पड़ा है? इस पर महामुनि विश्वामित्र ने नीचे लिखी कथा सुनाई। पूर्व-काल मे यह महात्मा गौतम था और वह अहल्यासहित यहाँ रहा करते थे। एक बार सहस्राक्ष शचीपति मुनि वेष धारण करके आए। जिस समय इन्द्र वापस जाने लगे, तो कुटी के द्वार पर महामुनि गौतम ने, जो कुटी की ओर आ रहे थे, उन्हे देख लिया। मुनि-वेषधारी इन्द्र को देख कर मुनि को बड़ा क्रोध आया और उन्होने शाप दिया कि तू नपुंसक हो जा। ऐसा ही हुआ भी। इन्द्र को शाप देकर उन्होने अपनी भार्या को भी शाप दिया कि तू निराहार, केवल वायु-भक्षण कर, भस्मशायिनी तप करती हुई और सब भूतो की दृष्टि से छिपी हुई हजारो वर्षों तक इस आश्रम में रहेगी। जब दशरथात्मज राम इस घोर वन मे आवेगे, तब तू पवित्र होगी और उनके आतिथ्य द्वारा लोभ-मोह रहित हो, शरीर धारण कर मुझसे मिल सकेगी। इस प्रकार अहल्या को शाप दे, महामुनि गौतम इस आश्रम को छोड़ तप करने के लिए हिमालय को चले गए।

इसके अनन्तर विश्वामित्र ने इन्द्र के पुरुषत्व लाभ करने की कथा राम को सुनाई और अंत मे आश्रम मे प्रवेश कर महाभागा अहल्या के तारने को कहा। विश्वामित्र के वचन सुन राम-लक्ष्मण ने आश्रम मे प्रवेश किया और वहाँ तप की कांति से चमकनेवाली, सुर और असुर, दोनो के लिए दुर्निरीक्ष्य, धुएँ से ढकी हुई अग्निशिखा, तुषार से ढकी हुई पूर्ण चंद्रप्रभा अथवा बादलो मे छिपी हुई सूर्य-प्रभा के समान देवी अहल्या को देखा। रामचन्द्र के दर्शन से शाप का अंत हो गया और उन लोगो को अहल्या के साक्षात् दर्शन हुए। तब राम-लक्ष्मण ने हर्षयुक्त हो अहल्या के पैर छुए और गौतम के वचनो का स्मरण कर अहल्या ने भी उन लोगो से भेंट की। पाद्य, अर्घ्य और आतिथ्य द्वारा सत्कार किया।

यह देख देवताओं ने पुष्पवृष्टि की और दुंदुभी बजाई और अप्सराओं ने बड़ा उत्सव मनाया। अहल्यासहित सुखी हो महामुनि गौतम ने भी राम का अच्छी तरह सत्कार किया। तदनतर रामचन्द्र विदा हो मिथिला पहुँचे।

अहल्या-उद्धार की कथा का दूसरा विस्तृत वर्णन हमें अध्यात्म-रामायण (बालकांड, सर्ग ५) में मिलता है जो अध्यात्म-रामायण के वर्णन का आरंभ वाल्मीकि के सदृश ही है। मिथिला जाते हुए मार्ग में निर्जन आश्रम को देखकर रामचन्द्र ने विश्वामित्र से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया और विश्वामित्र ने इन्द्र के दुराचार तथा गौतम द्वारा इन्द्र के शाप की कथा सुनाई। तदनन्तर हाथ जोड़े हुए और काँपती हुई अहल्या को देखकर गौतम बोले कि हे दुष्टे तू निराहार, दिन-रात तप करती हुई, धूप, वायु और वर्षा को सहन करती हुई, हृदय-स्थित परमेश्वर राम का एकाग्र मन से ध्यान करती हुई मेरे आश्रम में शिला पर रह[1]। यह मेरा आश्रम समस्त जीवधारियों से रहित हो जायगा। हजारों वर्ष बीतने पर दाशरथि राम छोटे भाई-सहित आवेंगे और जब वे तेरे द्वारा आश्रित शिला को पैर से छुएँगे, तब तू पाप-रहित हो, भक्ति से राम की पूजा कर तथा परिक्रमा और नमस्कार कर शाप से मुक्त होगी और पूर्ववत् मेरी शुश्रूषा सुख-पूर्वक कर सकेगी। ऐसा कह गौतम मुनि हिमालय को चले गए। यह कथा सुनाकर विश्वामित्र रामचन्द्रजी का हाथ पकड़ कर ले गए और अहल्या को दिखला कर उसे पवित्र करने को कहा। तब राम ने पैर से शिला को छुआ और तपस्विनी अहल्या को देख नमस्कार कर "मैं राम हूँ" ऐसा कहा।

अहल्या ने जब रामचन्द्र को देखा, जो पीत कौशेय वस्त्र धारण किए हुए थे, चार हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म लिए हुए थे, धनुर्बाण हाथ में था और लक्ष्मण उनके पीछे थे, तब गौतम के वचन का स्मरण कर

(१) 'शिलायां तिष्ठ' का अर्थ टीकाकार 'लीना भूत्वेति शेषः' करके कहते हैं।

उसे अत्यत हर्ष हुआ। वह समझ गई कि वे साक्षात् नारायण है, और उसने अर्घ्यादि से विधिवत् उनकी पूजा की व 'दण्डवत्' प्रणाम किया। फिर उठकर राजीव-लोचन राम को देख, पुलकायमान हो, गद्गद्-वाणी से बोली कि हे जगन्निवास! जिन चरण-कमलो का ध्यान एकाग्र मन से शकर आदि करते है, जिन चरण-कमलों के पराग से भागीरथी पवित्र हुई है और जिन चरण-कमलों को अपने वक्षःस्थल पर रखकर लक्ष्मी उनकी सेवा करती हैं, उन आपके चरण-कमलों के रज-कण से मै कृतार्थ हो गई। इसके अनतर अहल्या ने एक बड़े स्तोत्र द्वारा नारायण के अवतार रामचंद्र की स्तुति की और फिर प्रणाम कर आज्ञा ले, अपने पति के पास चली गई। श्री महादेव पार्वतीजी से कहते हैं कि अहल्या के बनाए, इस स्तोत्र को जो कोई भक्ति से पढ़ता है, वह सब पापो से छूट जाता है और परब्रह्म को प्राप्त होता है। भक्तिपूर्वक राम का हृदय में ध्यान कर पुत्रादि के निमित्त यदि कोई बध्या स्त्री भी इसका पाठ करे, तो साल भर मे उसे सुपुत्र प्राप्त हो जाय। ब्रह्मघ्न, गुरुतल्पग, स्तेयी, सुरापी, मातृ-भातृ-विहिंसक तथा सदाभोग के लिए आतुर पुरुष भी यदि रघुपति का ध्यान करते हुए भक्ति-पूर्वक इस स्तोत्र का नित्य जप करे, तो मुक्ति पा जावे, साधारण आचारयुक्त पुरुष की तो बात ही क्या है।

अहल्या उद्धार की कथा का तीसरा, किन्तु सर्वमान्य रूप हमें रामचरित-मानस (बालकाड, दोहा २४२-२४३) मे मिलता है। हिंदी-ससार इससे भली प्रकार परिचित है, किंतु तो भी तुलना के लिए हम उसे यहॉ ज्यो का त्यो उद्धृत किए देते हैं—

धनुषयज्ञ सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा॥
आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं॥
पूछा मुनिहिं शिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहो विसेखी॥
गौतम नारी आपबस, उपल-देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहति, कृपा करहु रघुबीर॥२४२॥

छंद—परसत, पद पावन सोक—नसावन प्रगट भई तपपुंज सही,
देखत रघुनायक जन सुख-दायक सनमुख होइ कर जोरि रही।
अति प्रेम—अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै वचन कही,
अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥
धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपति-कृपा-भगति पाई,
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई।
मै नारि अपावन प्रभु जगपावन रावन-रिपु जन-सुखदाई,
राजीव—बिलोचन भव-भय-मोचन पाहि-पाहि सरनहिं आई॥
मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मै माना,
देखेउँ भरि लोचन हरि भव-मोचन इहै लाभ शकर जाना।
बिनती प्रभु मोरी मै मति भोरी नाथ न माँगौं वर आना,
पद-कमल-परागा रस—अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥
जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई शिव सीस धरी,
सोइ पद—पङ्कज जेहि पूजत अज, मम शिर धरेउ कृपाल हरी।
एहि भाँति सिधारी गौतम-नारी बार-बार हरि-चरन परी,
जो अति मन भावा सो बरु पावा गइ पतिलोक अनद भरी।
अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाँड़ि कपट जजाल॥२४३॥

अहल्या-उद्धार की कथा के संबंध में इन भिन्न-भिन्न वर्णनों को पढ़कर नीचे लिखी बातों का पता चलता है—

१. ब्राह्मण-ग्रंथों के उल्लेखों से पता लगता है कि अहल्या की कथा का आधार ऐतिहासिक नहीं है, बल्कि कदाचित् धार्मिक-रूपक से इसका प्रारंभ हुआ है। टीकाकारो ने इस रूपक की तरह-तरह से व्याख्याएँ की हैं। कुमारिलभट्ट ने तत्र वार्तिक के शिष्टाचार प्रकरण मे एक व्याख्या दी है जिसका भाव यह है। इन्द्र का अर्थ है—परमैश्वर्यवाला और यह शब्द सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। दिन (अह) में छिपने (ल्या) के कारण

रात्रि को अहल्या कहते हैं। क्योंकि सूर्य (इन्द्र) रात्रि (अहल्या) को जीर्ण करता है इसलिए इन्द्र को अहल्या का जार कहा है। पर-स्त्री-व्यभिचार के कारण जार नहीं कहा है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। ब्राह्मण-ग्रन्थों मे अहल्या की कथा का पूर्वार्द्ध तो मिलता है, किंतु अहल्या—उद्धार का बिलकुल भी उल्लेख नही है। अहल्या की कथा मे यह अंश बाद को मिलाया गया है और इसका उद्देश्य रामचन्द्र का विष्णु-अवतार होना—सिद्ध करना मालूम होता है।

२. वाल्मीकि ने इन्द्र के दुराचार की कथा को विस्तार पूर्वक दिया है। अहल्या के शाप के सबंध मे विशेषता यह है कि उसके शिला होने का बिलकुल भी उल्लेख नही है—वह केवल अदृष्ट हो गई। दूसरी विशेषता यह है कि राम की पद-रज से अहल्या का उद्धार हुआ—इस बात का उल्लेख भी नही मिलता। राम के आश्रम मे आने से ही अहल्या पवित्र हो गई है। उल्टे राम और लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए हैं। टीकाकारो ने यहाँ पर बहुत खींचतान की है, किन्तु 'बदले मे अहल्या ने भी राम के पैर छुए' यह अर्थ भी वास्तव मे निकलता नही है। मालूम होता है कि अहल्या-उद्धार की कथा का यह रूप उस समय का है, जब स्वय राम पवित्र समझे जाते थे और उनके नाम अथवा पदरज की पवित्रता तक उपासकों की कल्पना नही पहुँच सकी थी।

३. अध्यात्म-रामायण मे भी अहल्या शिला नहीं हुई है, बल्कि शिला पर बैठकर तप करने लगी है और जब रामचद्रजी ने उस शिला को पैर से छुआ तो अहल्या पाप-रहित हो शाप-मुक्त हो गई। अध्यात्म-रामायण के वर्णन की विशेषता यह है कि इसमे अहल्या-उद्धार के अंश का विस्तृत वर्णन है और अहल्या के मुख से राम-रूपधारी नारायण की प्रशंसा एक लंबे स्तोत्र द्वारा कराई गई है। वास्तव मे अध्यात्म-रामायण का वर्णन अहल्या की कथा के बीच के रूप का द्योतक है। इन्द्र के दुराचार तथा राम-द्वारा उद्धार, दोनों का वर्णन है, यद्यपि दूसरा अंश अधिक महत्व-

पूर्ण है। शिला का भी उल्लेख आया है लेकिन अधिक स्वाभाविक ढंग से है।

४. अहल्या के शिला हो जाने का भाव भी बहुत पुराना है। कालिदास ने रघुवंश[1] के ग्यारहवे सर्ग मे, दो श्लोकों (३३-३४) में अहल्या की कथा दी है। यहाँ 'शिलामयी गौतम-वधू , का 'राम-पद-रज' के अनुग्रह से पुनः शरीर धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। पद्म-पुराण (१६, ७–१३) मे अहल्या-उद्धार की कथा ताडका-वध से पहले दी गई है। गौतम ने शाप दिया है कि 'शिला भव' और अत मे वायु ने राम-पद-रज शिला पर डाली है। कथा सरित्सागर (३, अ० १७) मे भी अहल्या की कथा आई है। इसके अनुसार गौतम ने निम्नलिखित शाप दिया था :—हे पापिन, चिरकाल तक राम के दर्शन पर्यंत शिलाभाव को प्राप्त हो।

५. गोस्वामी तुलसीदास ने अहल्या की कथा को एक आदर्श राम-भक्त की दृष्टि से चित्रित किया है। सत्य-हृदय गुसाईं जी को अहल्या के दुराचार की कथा-वर्णन करना रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ, अतः उन्होंने उसका स्पष्ट रूप से उल्लेख भी नहीं किया है—'पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी; सकल कथा मुनि कही विसेखी।' उनकी कथा तो अहल्या-उद्धार से आरभ होती है। किंतु अहल्या का शाप-वश 'उपल-देह' धारण करना तथा 'राम-चरन-रज' की कृपा से प्रगट होने का उल्लेख गुसाईं जी ने स्पष्ट शब्दो मे किया है। मानस की अहल्या-उद्धार की कथा मे अहल्या द्वारा स्तुति मुख्य अश है। इस अश पर अध्यात्म-रामायण की स्तुति का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। गुसाईं जी ने अहल्या की कथा को इस ढग से लिखा है कि पाठक का ध्यान अहल्या के दुराचार की ओर बिलकुल भी

---

१. बाबू शिवनंदनसहाय ने 'रघुवंश' और 'पद्मपुराण' के उल्लेखों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

नहो जाता, बल्कि पतित-पावन रामचन्द्रजी की अनन्य भक्ति मे तल्लीन हो जाता है।

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि अहल्या का शाप-वश शिला हो जाना और राम-पद-रज से मुक्त होने का भाव वैसा अटल सत्य नही है—जैसा हम लोगो का मस्तिष्क समझने लगा है। वाल्मीकि-रामायण मे ही—जहाँ इस कथा का प्रथम विस्तृत वर्णन मिलता है—इन दोनो बातो का उल्लेख नही है। अहल्या-उद्धार की यह प्रसिद्ध पौराणिक कथा ब्राह्मण-ग्रंथो के 'अहल्याजार' इंद्र से प्रारम्भ होकर अनेक रूप धारण करने के उपरात 'अहल्या-तारक' राम की भक्ति मे लय हो जाती है।

———

"मारेसि मोहिं कुठाउँ"

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

जब कैकेयी ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले, अभी दे दूँगा, किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदासजी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर लम्बी साँस भर कर कहा कि 'मारेसि मोहिं कुठाउँ', मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्यसमाज से है। आर्यसमाज ने भी हमे कुठाँव मारा है, कुश्ती मे बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूँजी शब्दो की है, जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों मे हम ठगे गए पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आए पर शब्दो की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमलनाल की ताँत की चोरी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमे काम असुरों से पडा, असीरियावालो से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इंद्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पडा पणियों से—फिनीशियन व्यापारियो से। उनसे हमने पण धातु

पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें से ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जिसके दुनियाँ को चकरानेवाला सर्वाङ्ग सुंदर व्याकरण हमारे यहाँ बन गया। पारस के पर्शवों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प के वजन पर कृश्वाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गए। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँचा गए। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत रूप हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवनसिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।

अब चाहे वेल्यूपेवल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय, पर पुराने हिंदू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चंद्रगुप्त मौर्य के जनाने में आई, यवन राजदूतों ने विष्णु के मंदिरों में गरुडध्वज बनाए और यवन राजाओं की उपाधि सोटर त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। गंधार से न केवल दुर्योधन की माँ गांधारी आई, बाल-वाली भेड़ों का नाम भी आया। बल्ख से केसर और हींग का नाम वाल्हीक आया। घोड़ों के नाम परसीक, काम्बोज, वनायुज वाल्हीक आए। शकों के हमले हुए तो शाकपार्थिव वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से वहाँ चढ़ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुंडे हुए

हूण की ठुड्डी की सी नारंगी। कलचुरि राजाओं को हूणो की कन्या मिली। पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ, बौड्म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) महाविरा चल गया। हाँ, रोमवालो से कोरा व्यापार ही रहा पर रोमक सिद्धांत ज्योतिष के कोश में आ गया। पारसी राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्भ (दिरहम) और दीनार (डिनारियस) हमारे भंडार में आ गए। अरबों ने हमारे 'हिंदसे' लिए तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गए। कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दे गए। मुसलमान आए तो सुलतान का सुरत्राण अमीर का हम्मीर, मुगल का मुंगल, मसजिद का मसीति—कई शब्द आ गए।

लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है। हम कहते हैं कि पहले एक था अब बिखर रहा है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है। उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचंद वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं। पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञानपरिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आए तो कौन सी बाबू श्यामसुंदर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुगल ? तो भी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पंडित सब सुरत्राण कहने लग गए। एकता तब थी कि अब ?

बौद्ध हमारे यहाँ से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो 'देवानां प्रियः' मूर्ख को कहा करते थे। उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिए का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्त्विक दान भी उन्हीं ने किया।

बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्यसमाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी

पकडी है कि सिर नीचा कर दिया। औरो ने तो गाँठ का कुछ न लिया, पर इन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते है कि 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से लिए है कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गए !!!

हम अपने आपको 'आर्य' नही कहते, 'हिंदू' कहते है। जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगो मे छिपाए जाते थे वैसे ही हमे विदेशी शब्द हिंदू की शरण लेनी पड़ती है। और आर्यसमाज पुकार-पुकार कर जले पर निमक छिड़कता है कि है ! क्या करते हो ? हिंदू माने काला, चोर, काफिर !! अरे भाई ! कहीं बसने भी दोगे ? हमारी मंडलियाँ भले 'सभा' कहलावे 'समाज' नही कहला सकतीं। न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहे और समज कहे (समज पशुओ का टोला होता है) ? हमारी सभाओ के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ, उपसभापति से मुराद है) हो जावे किंतु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सकते। हमारा धर्म वैदिक धर्म नही कहलावेगा, उसका नाम रह गया है—सनातन धर्म। हम हवन नही कर सकते, होम करते है। हमारे सस्कारो की विधि संस्कारविधि नहीं रही, वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई। उनके समाज-मदिर होते है, हमारे सभा-भवन होते है। और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया—चाहे जय रामजी कह लो, चाहे जय श्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना।

ओंकार बड़ा मागलिक शब्द है। कहते हैं कि यह पहले-पहल ब्रह्मा का कठ फाडकर निकला था। इस आदि नाद का बडा महत्व था। इसी से प्रत्येक मत्र के आरभ मे इसे लगाया जाता था। पर उसे भी ले लिया। प्रत्येक मंगल-कार्य के आरंभ मे हिदू श्रीगणेशाय नमः कहते है। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस मुहावरे का अर्थ है कि अभी आरंभ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पडितजी गरुड़पुराण की कथा कहने गए। आरभ किया श्रीगणेशाय नमः। सेठजी चिल्ला उठे—वाह महाराज ! हमारेयहाँ

तो यह बीत रहा है और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय नमः। माफ करो। तब से चाल चल गई है कि गरुड़पुराण की कथा में श्रीगणेशाय नमः नहीं कहते, श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं। उसी तरह अब सनातनी हिंदू न ओम् बोल सकते हैं, न लिख सकते हैं, संध्या या यज्ञ करने पर जोर नहीं देते। श्रीमद्भागवत की कथा या ब्राह्मण भोजन पर संतोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया। यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें। इश्कबाजी और लड़ाई में सब-कुछ जायज है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कॉंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, 'चत्वारि शृङ्गा' वाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एकशेष करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों की मूर्तियाँ बनानी पड़ती हैं। नाम तो रह गया हिंदू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफिर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि + इंदु। कभी मेरुतंत्र का सहारा लेते हैं कि 'हीनं च दूषयत्येव हिंदूरित्युच्यते प्रिय।' यह उमा-महेश्वर संवाद है। कभी सुभाषित के "हिंदवो विंध्यमाविशन्" को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः क्राता' भी कहा है; कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदासरचित विक्रम महाकाव्य में 'हिंदूपतिः पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है। इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना कि जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो; वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलाने वाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला, यूनानी नहीं) समय में हिंदूपद के प्रयोग की कल्पना! कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है!

बाबा दयानन्द ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पचीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ

रहे तो या तो वह गर्भ मे ही मर जाय या चिरजीवी न हो या दुर्बलेंद्रिय होकर जीवे। हम समझ गए कि यह हमारे बालिकाविवाह की जड कटी—नहीं, बालिकारम्भ पर कुठार चला। अब क्या करें? चरक कोई धर्मग्रंथ तो है नही कि जोड की दूसरी स्मृति मे से दूसरे वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब मे दे दिया जाय। धर्मग्रंथ नही है, आयुर्वेद का ग्रंथ है। इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेंद्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते—और व्यवहार मे मानते ही हैं—पर बाबा दयानद ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पडितजी लिखते है कि हमारे पडदादा के पुस्तकालय मे जो चरक की पोथी है उसमे पाठ है—

ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज आफ कसेंट बिल' देता है, बाबाजी क्यो सोलह कहते है? चरक की छपी पोथियो मे कही यह पाठ न मूल मे है, न पाठातरो में। न हुआ करे—हमारे पडदादा की पोथी मे तो है!

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि "मारेसि मोहिं कुठाउँ"।

————

समाज और धर्म

संपूर्णानन्द

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकते हैं परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणानिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गई है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुखी और दरिद्र हैं। साधनों की कमी नहीं है, परन्तु धर्म्म बुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु-प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे हैं और रहेंगे। परन्तु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरों को उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं उनके मार्ग में पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है परन्तु समाज किसी में हठात् आत्मसाक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है न ब्रह्मविवित्सुओं के लिए सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्म्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु समाज का संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने

आत्मज्ञान और अभेद दर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूल मन्त्र प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओ के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जायगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जायगी कि जिन लोगो की धर्म्म-बुद्धि अभी उद्‌बुद्ध नही है वह समाज की बहुत क्षति न कर सके।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकडो मे बॉट लिया है कि एकता को कही आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकडे हैं उतने ही पृथक् हित है और इन हितो की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढाती है।

उदाहरण के लिए उस टुकडे को लीजिए जिसको राष्ट्र कहते है। हमने अपने को राष्ट्रो मे बाँट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र, प्रभुराज के रूप में सव्यूढ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते है, एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं है, फिर भी विभिन्न राष्ट्रो के सदस्य होने के कारण उनके हित टकराते हैं, एक को दूसरे से लडना पडता है, एक को दूसरे के बाल-बच्चो को भूखों मारना पडता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है, परन्तु समूचे राष्ट्र को दास बनाना, समूचे राष्ट्र के जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है। बलात् दूसरे के घर का प्रबन्ध नही किया जा सकता परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रो और राजो के परस्पर व्यवहार मे सत्य, अहिंसा और सहिष्णुता का स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है वह राजपुरुष के पद से दूसरे राष्ट्र का गला घोट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुम्ब मे व्यक्ति होते हैं, समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातों मे अपना अलग जीवन भी बिताएँ परन्तु सारे मानव-समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए। जो राष्ट्र दूसरे की ओर

कुदृष्टि से देखे वह राष्ट्र-समुदाय से बहिष्कृत और -दण्डित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाए जा सकते हैं। मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है। योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देश के निवासी हो मनुष्य-समाज मात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग्य-सामग्री प्रदान की है उसे भी मनुष्य मात्र के उपभोग का साधन मानना उचित है। जब तक मनुष्य अपने देश के बाहर अजनबी समझा जायगा, जब तक वसुन्धरा बलवानो की सम्पत्ति समझी जायगी, जब तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर, तब तक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

जो नियम अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के लिए उपयुक्त है वही राष्ट्र के भीतर के लिए भी लागू होता है। यह समाजशास्त्र, राजनीति या अर्थशास्त्र की पुस्तक नहीं है, परन्तु दो चार बातो की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए जिसमे प्रत्येक मनुष्य को धर्म्माविरुद्ध अर्थ और काम की निर्बाध प्राप्ति हो सके। यह तभी हो सकता है जब समाज का सघटन धर्म्ममूलक हो। समय के साथ धर्म्म के ऊपरी रूप बदलते रहते है परन्तु उसके मूलतत्व अटल है। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है वह धर्म्म है, जो काम अपने सकुचित 'स्व' पर केन्द्रित रहता है वह अधर्म्म है। जिस समाज मे कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा, जिस समाज मे योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का, अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊँचे पद से हटाया न जायगा, जिस समाज मे तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा वह अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज मे थोड़े से व्यक्तियो को

समाज की धनजन-शक्ति को यथेच्छ लगाने का अधिकार होता है, जिस समाज मे शासितो को अपने शासको की आलोचना करने, और उनके काम से असन्तुष्ट होने पर उनको हटाने का अधिकार नही होता, जिस समाज़ मे शासको के ऊपर तपस्वी विद्वानो, ब्राह्मणो का अंकुश नही होता, जिस समाज मे शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासको का नियन्त्रण होता है, वह समाज अधर्म्म की नीव पर खडा है। जिस समाज मे थोड़े से मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन हैं, जिस समाज मे भोज्य पदार्थों के उत्पादन के मूल साधनो, अर्थात् भूमि, खनिजो और यन्त्रो, पर कुछ व्यक्तियो का स्वत्व है, जिस समाज मे मनुष्य का शोषण वैध है, जिस समाज मे प्रतिस्पर्धियो को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन है, जिस समाज मे बहुतों की जीविका थोड़े के हाथ मे है, वह समाज अधर्म्म की नीव पर खडा है। यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन काल मे आज से कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमे से कई बाते उचित समझी जाती थी और बड़े-बड़े विद्वानो ने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है, धर्म्म का सिद्धान्त अटल है परन्तु देश-काल-पात्र भेद से उसके विनियोग मे भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणो ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो परन्तु हमको इस समय को देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गान्धी का नाम तर्क का स्थान नही ले सकता। बस, धर्म्माधर्म्म की एक परख है, यह काम भेदभाव को कम करता है या बढ़ाता है? लोगो को एक दूसरे से मिलाता है या उनमे संघर्ष उत्पन्न करता है? जहाँ कुछ लोगो को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्तव्य बाँटे जायेगे, जहाँ शिक्षक, पण्डित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियो और श्रीमानों के उपजीवी होंगे, जहाँ पुरोहित का लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा, जहाँ सम्पन्नो के दरबारी व्यास पीठ से दुर्बलों और दलितो को शान्ति और संतोष का पाठ पढ़ाने मे इतिकर्त्तव्यता समझेंगे, वहाँ कदापि समता, सद्भाव,

सहयोग, एकता नही रह सकती। वहाँ वैषम्य की आग प्रत्येक दुःखी हृदय मे दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रान्ति की लपट न केवल समाज की बुराई वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि अन्याय, शोषण प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवचन का निरंतर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी-प्राणी मे सद्भाव और शान्ति स्थापित करने का यत्न करें। ऐसे वातावरण मे ही ऊँची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं। ऐसी परिस्थिति मे ही धर्म का अभ्यास निर्बाध और परिपूर्ण हो सकता है। ऐसे समाज मे ही आत्मसाक्षात्कार के इच्छुको को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नही बना सकता परन्तु मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहने का अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है।

गेहूँ बनाम गुलाब

रामवृक्ष बेनीपुरी

गेहूँ हम खाते है, गुलाब सूँघते है। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बडा या गुलाब? हम क्या चाहते है—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस?

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा, पिपासा, पिपासा। क्या खाए, क्या पिए? माँ के स्तनो को निचोडा, वृक्षो को झकझोरा, कीट-पतग, पशु-पक्षी—कुछ न छुट पाए उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है? गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाडे जा रहे है—गेहूँ के लिए!

बेचारा गुलाब—भरी जवानी मे सिसकियाँ ले रहा है। शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियो को कहीं कोने मे डाल रक्खा है, दबा रक्खा है?

× × × ×

किन्तु, चाहे कच्चा चरे या पकाकर खाए—गेहूँ तक पशु और मानव मे क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव मानव तब

बना जब उसने शरीर की आवश्यकताओ पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी ?

यही नहीं, जब उसकी भूख खॉव-खॉव कर रही थी तब भी उसकी ऑखे गुलाब पर टॅगी थीं, टॅगी थीं ।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियॉ गेहूँ को ऊखल और चक्की मे पीस-कूट रही थीं । पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नही हुआ, उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनाई तुरही । मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव मे पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप-छप मे उसने ताल पाया, तराने छोड़े ! बांस से उसने लाठी ही नहीं बनाई वंशी भी बनाई ।

रात का काला-घुप्प परदा दूर हुआ, तब यह उच्छ्वासित हुआ सिर्फ इसलिए नही कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने मे उसे सहूलियत मिलेगी, बल्कि वह आनन्द विभोर हुआ, उषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणो से, पृथ्वी पर चमचम करते लच्च-लच्च ओस कणों से ! आसमान में जब बादल उमडे तब उनमे अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नही हुआ ? उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया, इन्द्र धनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों मे रंग दिया ।

मानव शरीर मे पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर । पशुओ की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा मे नहीं हैं । जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की ।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है, किंतु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की । उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे है ।

× × × ×

जब तक मानव के जीवन मे गेहूँ और गुलाब का सम-तुलन रहा वह सुखी रहा, सानन्द रहा!

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका सॉवला दिन मे गाये चराता था, रात मे रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ वह आकाश को नही भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरे गड़ी थी, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं।

किन्तु धीरे-धीरे यह सम-तुलन टूटा।

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोडने वाले, उबाने वाले, थकाने वाले, नारकीय यंत्रणाएँ देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का। वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी!

अब उसके सॉवले ने हाथ मे शख और चक्र लिए। नतीजा—महाभारत और यदुवशियो का सर्वनाश!

वह परम्परा चली आ रही है। आज चारो ओर महाभारत है, गृह युद्ध है, सर्वनाश है, महानाश है!

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतो मे, गुलाब रो रहा है बगीचो मे—दोनों अपने-अपने पालन-कर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर!

× × × ×

चलो, पीछे मुडो। गेहूँ और गुलाब मे हम एक बार फिर सम-तुलन स्थापित करे!

किन्तु मानव क्या पीछे मुडा है? मुड सकता है?

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा!

और क्या नवीन सम-तुलन चिरस्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहराकर नही रहेगा ?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ मे फिर सम-तुलन लाने की चेष्टा मे सिर खपाने की आवश्यकता नही।

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे ! गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर विजय ! अब नए मानव की यह नई आकाक्षा हो।

क्या यह संभव है !

बिल्कुल सोलह आने सभव है।

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव मे यह चिर-बुभुक्षा क्यो है।

गेहूँ का गेहुँत्व क्या है, हम जान गए है। यह गेहुँत्व उसमे आता कहाँ से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है।

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रतिक्रिया से पौटो की बालियों मे संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते है। उन्ही तत्वो की कमी हमारे शरीर मे भूख नाम पाती है।

क्यो पृथ्वी की कुड़ाई, जुताई, गुड़ाई ! हम पृथ्वी और आकाश से सीधे इन तत्वो को क्यो नही ग्रहण करे ?

यह तो अनहोनी बात—युटोपिया, युटोपिया !

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक मानव संहार-काण्ड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यो ही उसने जीवन की समस्याओ पर ध्यान दिया, यह बात हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी !

और, विज्ञान को इस ओर आना है नही तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है !

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर भी कदम बढा भी रहा है।

कम से कम इतना तो अवश्य ही कर देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की परमावश्यक वस्तुएँ हवा, पानी की तरह इफरात हो जायँ। बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म, आदि तो निकलते ही आ रहे हैं जो गेहूँ कि समस्या को हल कर दे !

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले साधनो की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है !

प्रचुरता ?—एक प्रश्न चिन्ह !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है ?

"हमारा सोने का हिन्दोस्तान"—यह गीत गाइए, किन्तु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता निवास करती थी ! जिसे दूसरे की बहू-बेटियो को उड़ा ले जाने मे तनिक भी झिझक नहीं थी।

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, जो अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छः महीने सोती थी !

गेहूँ बडा प्रबल है—वह बहुत दिनो तक हमे शरीर का गुलाम बना कर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओ की क्षुधा जाग्रत कर बहुत दिनों तक आपको तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता मे भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी मनोवृत्तियो को वश मे करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियो के सयमन की और वृत्तियो को उर्ध्वगामी करने की।

सयमन का उपदेश हमारे ऋषि मुनि देते आए है। किन्तु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने है—बड़े-बड़े तपस्वियो की लम्बी-लम्बी तपस्याएं एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गई !

आज भी देखिए। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशो और आदेशो पर चलने वाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं।

इस लिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियो को उर्ध्वगामी करना !

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए!

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की!

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं।

× × × ×

गेहूँ की दुनियाँ खत्म होने जा रही है। वह दुनियाँ जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई है।

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही, राजनीतिक रूप में रक्त बहाती रही!

अब दुनियाँ आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनियाँ कहेंगे!

गुलाब की दुनियाँ—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बनाएँगे?

जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे!

गुलाब की दुनियाँ—रंगों की दुनिया, सुगन्धों की दुनियाँ!

भौंरे नाच रहे, गूँज रहे, फुलसुँघनी फुदक रही, चहक रही!

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह!

कहीं गन्दगी नहीं, कहीं कुरूपता नहीं, आँगन में गुलाब, खेतों में गुलाब, गालों पर गुलाब खिल रहे, आँखों से गुलाब झाँक रहा!

जब सारा मानव जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा! वह दिन कब आयगा!

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे हैं! कैसी आँखें हैं आपकी! शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही!

शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर!

———

तिब्बत के पथ पर

राहुल सांकृत्यायन

आज (१४ मई) सबेरे थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा था। बड़े सबेरे ही शौच आदि से निवृत्त हो मैने तमङ्ग[1] तरुण से साथ चलने को कहा। उसे पके खेत को काटना था, इसलिए अवश्य कठिनाई थी। अन्त मे मैने उसे 'तात पानी' तक ही चलने के लिए कहा। उसके मन में भी न जाने क्या ख्याल आया, और वह चलने को तय्यार हो गया। तब तक आठ बज गए थे। बूँदें भी कुछ हलकी हो गई थीं। मैंने सबसे बिदाई ली। गॉव से थोड़ा मक्खन तो न मिल सका, सत्तू लेकर हम चल पड़े। मालूम हुआ, हमारे रास्ते के बगल मे ही चरवाहों का डेरा है, वहॉ मक्खन मिल जायगा। हमारा रास्ता पहाड़ के ऊपरी हिस्से पर से जा रहा था। यहॉ चारो ओर जङ्गल था। रास्ता कहीं-कहीं तो काफी चौडा था। इन रास्तो की मरम्मत आदि गॉव के लोग ही किया करते हैं।

छः घण्टे बाद हम चरवाहों के डेरे मे पहुँच गए। मोटी जंजीर मे बँधे कुत्तो ने कान के पर्दे फाडना शुरू किया। गृहिणी ने कुत्तों को दबाया, तब फिर हम डेरे के भीतर घुसने पाये। डेरा क्या था, चटाइयो से छाया हुआ झोपडा था, जिसके भीतर खाने-पीने का सामान, कपडे, बिछौने, बर्तन सभी ठीक से रक्खे हुए थे। जामो (=गाय और चमरे से उत्पन्न

---

१ —एक जाति।

मादा) दुही जा रही थी। गृहपति लकड़ी के छोटे बर्तनो मे दूध दुह-दुह कर लाता था। गृहपत्नी चारा तय्यार कर रही थी। इस देश मे दुहने के वक्त गाय के सामने कोई खाने की चीज अवश्य रखनी होती है। डेरे के एक कोने मे लकडी का बड़ा बर्तन छाछ से भरा हुआ था। डेरे वालों ने दूध पीने को कहा, किन्तु मैंने छाछ पसन्द की। इसके बाद उन्होंने खाने का आग्रह किया। आगे रास्ते में कुछ खाने को मिलेगा या नहीं इसका कुछ ठीक न था, इसलिए मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसी समय उन्होने चावल और तरकारी बनाई। हमारे खाना समाप्त करने तक उन्होने मक्खन भी तैयार कर दिया। इस प्रकार ग्यारह बजे के करीब हमे छुट्टी मिली।

विशालकाय वृक्षो के बीच से रास्ता बडा सुहावना मालूम होता था। जङ्गली पक्षियों के मधुर शब्द कर्णगोचर हो रहे थे। मेरा साथी भोटिया भाषा अच्छी जानता था, उसकी दूसरी बोली मैं नहीं जानता था। दोनो बीच-बीच भोटिया मे बात करते, कभी स्ट्राबरी चुनते, कभी जोको से पैर बचाते, आगे बढ़ रहे थे। ऊपर कहीं-कहीं गॉव भी मिलते थे। यह सभी गॉव 'यल्मो' लोगो के थे। सारा गाँव सफेद ध्वजाओ का जङ्गल था। गॉव के पास रास्ते मे 'मानी' का होना अनिवार्य था। मानियों के दोनो ओर रास्ता बहुत साफ बनाया गया था। बौद्ध यात्री सदा इन मानियो को दाहिने रख परिक्रमा करते चला करते हैं। यद्यपि इस प्रकार चारो ओर परिक्रमा नहीं होती, तो भी उसकी लम्बी परिक्रमा हो जाती है या भविष्य की यात्राओं से परिक्रमा पूरी हो जाती है, और आदमी महापुण्य का अधिकारी हो जाता है। एक गॉव मे तो 'मानी' की दीवारों मे पत्थरो पर खुदी हुई तस्वीरो पर रङ्ग भी ताजा ही लगा हुआ था। ऊपर कह चुका हूँ, 'यल्मो' लोगों मे लामा-धर्म बहुत जाग्रत है और वह खाने-पीने से भी खुश हैं।

एक बजे के करीब हम डॉडे के किनारे पर आये। यहॉ से हमे दूसरी ओर जाना था। ऐन 'ला' (दर्रा) पर बडी मानी थी। दूसरी ओर पहुँचते

ही सीधी उतराई शुरू हुई। थोड़ा नीचे उतरने पर जङ्गल आँखो से ओझल हो गया। चारो ओर खेत ही खेत थे। थोडी ही देर मे पके जौ और गेहूँ के खेत भी ऊपर छूट गए। जितना ही हम नीचे जाते थे, उतना ही ताप-मान का स्पष्ट प्रभाव खेतो पर दिखाई पड़ता था। मै भी अब चलने मे कमजोर न था, मेरे साथी को भी खेत काटने के लिए जल्द लौटना था। इसलिए हम खूब तेजी से उतर रहे थे।

'तमङ्गो' के कितने ही गाँवो को पारकर, निचले हिस्से मे गोर्खों के गाँव मिले। यहाँ मकई एक-एक बालिश्त उगी थी। तीन-चार बजे हम नीचे नदी के पुल पर पहुँच गए। यहाँ भी एक सरकारी सिपाही रहता था, किन्तु उसे एक भोटिया लामा से क्या लेना था। पार होकर चढ़ाई शुरू हो गई। चढ़ाई मे अब उतनी फुरती नही हो सकती थी। पाँच बजे के बाद थकावट भी मालूम होने लगी। हमने सबेरे ही सबेरे का निश्चय कर लिया। पास के गाँव मे एक ब्राह्मण का घर मिला। गृह-पति ने लामा को आसन दे दिया। साथी ने भात बनाया। रात बिताकर फिर हम ऊपर की ओर बढ़े। कितने ही गाँव और नालो को पार करते हुए दोपहर के करीब हम डाँडे पर पहुँचे। डाँडे को पार करते ही फिर वृक्षो से शून्य पहाड मिला। बारह बजे के बाद दूसरा डाँडा भी पार कर लिया, और अब हम काठमाण्डव से कुत्ती जाने वाले रास्ते पर थे। यह रास्ता ऊपर-ऊपर से जाने वाला है। नीचे से एक दूसरा भी रास्ता है, लेकिन वह बहुत गर्म है।

इस डाँडे को पार करने पर फिर हमे घना जगल मिला। आज कल कुत्ती से नमक लाने का मौसम था, इसलिए झुण्ड के झुण्ड आदमी या तो मकई, चावल लेकर कुत्ती की ओर जा रहे थे या नमक पीठ पर लादे पीछे लौट रहे थे। दो बजे के करीब से उतराई शुरू हुई। अब भी हम 'शर्बों' की बस्ती मे थे। 'यल्मो' लोग भी 'शर्बा' भोटियो की एक शाखा हैं। यह 'शर्बा' भोटिये दार्जिलिंग तक बसते चले गये है, 'शर्-बा' का मत-

लब है पूर्व-वाला। एक शर्वा से पूछने पर मालूम हुआ कि डुकपा लामा अभी इधर से नहीं गुजरे हैं। विश्वास हो चला, शायद पीछे ही हैं। एक घण्टे की उतराई के बाद मालूम हुआ, डुक्पा लामा अगले गाँव में ठहरे हुए हैं। बड़ी प्रसन्नता हुई। तीन बजे हम जाकर उनके सामने खड़े हुए। मेरा उनका कोई झगड़ा तो था नहीं, सिर्फ जातीय स्वभाव के कारण उन्होंने मेरी उपेक्षा की थी। सभी लोग 'पंडिता' को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। उस रात को वहीं रहना हुआ। गाँव 'तमङ्गों' का था। ये लामा धर्म के मानने वाले कहे जाते हैं, लेकिन डुक्पा लामा ऐसे बड़े लामा के लिए भी उनको कोई श्रद्धा न थी। दाम देने पर भी मुश्किल से चीज मिलती थी। मेरे दिल में अब पूर्ण शान्ति थी। कुल्लू के रिछन् साथ थे। डुक्पा लामा का शरीर बहुत भारी था और चलने में बहुत कमजोर थे। इसलिए बीच-बीच में उनको ढोने के लिए दो आदमी साथ ले लिए थे। हमारी जमात में चार लामा और चार गृहस्थ थे। इस प्रकार सब मिलाकर हम आठ आदमी थे।

सबेरे फिर उतराई शुरू हुई। यहाँ नदी पर लोहे का झूलेवाला पुल था। आम रास्ता होने से यहाँ चट्टी पर दूकानें थीं। खाने की और कोई चीज तो न मिली, हाँ आग में भुनी मछलियाँ मिलीं। चढ़ाई फिर शुरू हुई। शाम तक चढ़ाई चढ़ते हम 'तमङ्गों' के बड़े गाँव में पहुँचे। वहाँ रात बिता गुरु को ढोने के लिए दो आदमी ले फिर सबेरे चल पड़े। एक डाँडा और पार करना पड़ा, फिर उतराई शुरू हुई। अन्त में हम काली नदी के किनारे पहुँच गए। अब हम काटमाण्डव से आने वाले बड़े मार्ग पर आ गए। सड़क पर नमकवालों का मेला सा जाता हुआ मालूम होता था। अब हम शर्वा लोगों के प्रदेश में थे। १८ मई (४ ज्येष्ठ) को हम काली नदी के ऊपरी भाग पर शर्वों के एक बड़े गाँव में ठहरे। साथियों ने बतलाया, कल हम नेपाल की सीमान्त चौकी पार करेंगे।

इस यात्रा मे और लोग तो 'थुकपा सत्तू' से काम चला लिया करते थे, किन्तु मेरे और डुकपा लामा के लिए भात बना करता था। कभी कोई जङ्गली साग मिल जाया करता। कभी भुनी मछली का झोल मिल जाता था। आज तो इस गाँव मे मुर्गी के अण्डों की भरमार थी। हमने चालीस-पचास अण्डे खरीदे और रात को ही सबने उन्हें चट कर दिया। नीचे तो मुझे इन चीजो से कुछ सरोकार न था, किन्तु मैंने इस यात्रा में मास का परहेज छोड़ दिया था। लड़कपन मे तो इसका अभ्यास था ही, इसलिए घृणा की कोई बात नहीं। उसी रात को मैने 'यत्मों' मे लिखे कुछ कागजो को जला दिया। मैने सोचा कि 'तातपानी' मे कोई देखभाल न करने लगे।

हम काली नदी के ऊपरी भाग पर थे। धीरे-धीरे नदी की धार की ऊँचाई के साथ-साथ हम भी ऊँचे पर चढ़ते जाते थे। नदी के दोनो ओर हरियाली ही हरियाली थी। सभी जगह जङ्गल तो नही था, किन्तु नङ्गा पर्वत कहीं न था। दो बजे के करीब हम 'तात-पानी' पहुँचे। गर्म पानी का चश्मा होने से इसे 'तात-पानी' कहते हैं। गाॅव में नेपाली चुङ्गी-घर और डाकखाना है। मेरी तबियत घबरा रही थी। डर रहा था, 'तुम मधेस का आदमी कहाॅ से आया' तो नहीं कहेगा। हमारे लामा पीछे आ रहे थे। चुङ्गीवालो ने पूछा—लामा कहाॅ से आते हो? हमने बतला दिया, तीर्थ से। चुङ्गी से छुट्टी मिल गई। रिञ्चन् ने कहा—'अब हो गया न काम खतम?' उसी वक्त मुझे मालूम हुआ कि फौजी चौकी आगे है। मैने कहा—भाई! असली जगह तो आगे है।

थोडी देर मे लामा भी आ गए। इस वक्त वर्षा हो रही थी। थोड़ी देर एक झोपड़ी में हमें बैठना पडा। फिर चल पडे। आगे एक ऊँचे पर्वत-बाहु से हमारा रास्ता रुक सा गया। नदी की धार भी किधर से होकर आती है, नहीं मालूम पडता था। अब मेरी समझ मे आया, क्यो तात-पानी की फौजी चौकी तात-पानी में न होकर आगे है। वास्तव मे यह

सामने की महान् पार्वत्य दीवार सैनिक दृष्टि से बड़े महत्व की है। नीचे से जानेवाली बड़ी पल्टन को भी कुछ ही आदमी इस दीवार पर से रोक सकते है। थोडी देर मे चढ़ाई चढ़ते-चढते हम वहा पहुँच गए जहाँ रास्ते मे पहरावाला खड़ा था। पहरेवाले ने सबको रोक कर बैठाया, फिर हवल्दार साहेब को बुला लाया। यही वह असल जगह थी, जिससे मैं इतना डरा करता था। मै अपने को साक्षात् यमराज के पास खड़ा समझ रहा था। पूछने पर हमारे साथी ने कह दिया, हम लोग केरोङ् के अवतारी लामा के चेले है! लामा भी थोड़ी देर में आ गए। हवल्दार ने जाकर कप्तान को खबर दी। उन्होने सूबेदार को भेज दिया। आते ही एक-एक का नाम-ग्राम लिखना शुरू किया। उस समय यदि किसी ने मेरे चेहरे को देखा होता, तो उसे मै अवश्य बहुत दिनो का बीमार सा मालूम पडता। भरसक मै अपने मुँह को उनके सामने नहीं रखना चाहता था। अन्त मे मेरी बारी भी आई। रिञ्चेन् ने कहा—इनका नाम खुनू छ्वङ् है। सबको छुट्टी मिली। मै भी परीक्षा मे पास हो गया। पेट भरकर साँस ली। शाम करीब थी, इसलिए अगले ही गाँव मे ठहरना था। सूबेदार ने गाँव के आदमी को कह दिया कि अवतारी लामा को अच्छी जगह पर टिकाओ और देखो तकलीफ न हो। हमलोग उसके साथ अगले गाँव मे गए। रात मे रहने के लिये एक अच्छा कोठा मिल गया।

आज (१६ मई = ५ ज्येष्ठ) डुक्पा लामा ने देवता की पूजा आरम्भ की। सत्तू की पिण्डियो पर लाल रङ्ग डालकर मास तैय्यार किया गया। घी के बीसो दीपक जलने लगे। थोड़े मन्त्रो के जप के बाद, डमरू गडगड़ाने लगा। रात के दस बजे तक पूजा होती रही। पीछे प्रसाद बाँटने का समय आया। लाल सत्तू का प्रसाद मैंने भी पा लिया, मैंने इन्कार नहीं किया।

दूसरे दिन सबेरे चल पड़े, दो घन्टे मे हम उस पुल पर पहुँच गए, जो नेपाल और तिब्बत की सीमा है। तिब्बत की सीमा मे पैर रखते ही चित्त हर्ष से विह्वल हो उठा। सोचा, अब सबसे बड़ी लड़ाई जीत ली।

विशाल वाटिका

बालकृष्ण भट्ट

पहले इसके कि इस विशाल-वाटिका का हाल हम अपने पढनेवालो को कह सुनावे, उचित जान पडता है कि जिस बाग का सैलानी हम उन्हे बनाते हैं, उस बाग के बागवान के साथ उनका परिचय करा दे। यह बागवान यद्यपि बूढा हो गया है और अब इनकी नस-नस ढीली पड गई है, पर बागवानी के हुनर मे सब भाँति कुशल, अपने नये-नये साथियो से कहीं पर, किसी अश मे कम नहीं है। इस बाग के माली मे यह एक अनोखा गुण पाया गया कि इस बाग की सर्वाङ्ग सुन्दरता पर मोहित हो जो यहाँ आया, उसे इसने इतना लुभाया कि वह अपनी निज की जन्म-भूमि को भूल यहीं का हो गया। इस तरह के पाहुने एक-दो नही, वरन् न जानिए कितने आए और आते-जाते हैं। कितने भूत के आकार से लम्बी-लम्बी दाढी वाले यहाँ के फूल-फल पर प्रलोभित हो आए। जो कुछ हाथ लगा, नोचखसोट चम्पत हुए। एक इन लुटेरो मे एक पाँव का लँगड़ा भी था। कोई-कोई आए तो इसी मनसूबे से कि जो कुछ पावे ले-लेवाय चल खडे हों, पर इस बाग के माली के साथ उनकी ऐसी खिल्तमिल्त हो गई कि वे भी अपनी जन्मभूमि को भूल यहीं के हो गए। कोई अदला-बदला करने की इच्छा से आए, उनकी उजाड ऊसर धरती मे जो कुछ उन्हे

मिला उसे यहीं छोड यहाँ के सुस्वादु, रसीले और सुगन्धित फल फूल ले गए। कुछ दिन के उपरान्त उनको भी जगल, उजाड़ और ऊसर धरती मे रहना पसन्द न आया। इस चतुर माली के कोमल बर्ताव से इस मनोहर वाटिका पर मोहित हो उन्हे भी यहीं अपना घर बनाना पसन्द आया।

इन आगन्तुको मे अमित असीम महोर्मिमाली वरुणालय को नॉघते-डॉकते एक ऐसे आए जो अपनी काल-व्याल-सी भीषण विकराल दृष्टि के पात से उस बूढ़े बागवान को संत्रासित करके उसकी नस-नस को ढीली कर डाला। भोला-भाला बागवान इसी ख्याल मे था कि यह भी हमारी इस मनोहर वाटिका पर रीझ यहाँ बस हमारा एक अंग बन जायगा। किन्तु यह नया पाहुना ऐसा चालाक निकला कि इसने उस समस्त वाटिका को तिल-तिल नाप-जोख बात की बात मे अपना अधिकार उस पर जमा लिया और सरल चित्त बाग के माली को सब ओर से ऐसा जकड़ लिया कि अब यह इस नये पाहुने के पेच मे पडा हुआ सब भॉति बेबस हो गया और जो कुछ समझ रक्खा था, कि थोडे दिन के जोर-जुल्म के बाद या तो यह चला जायगा या बस जायगा तो औरो की तरह यह भी हमारा ही होकर रहेगा सो सब बात उलटी पडी। यह पाहना चालाकी में एक निकला। पहले वालो का सब दास्तान जान चुका था और बागवान की प्रलोभन-शक्ति को भी खूब टटोल चुका था। इसने अपनी जन्म-भूमि का सम्बन्ध न छोडा वरन् जहाँ जो कुछ हीर पदार्थ इसने पाया अपनी मातृ-भूमि मे भेजना आरभ कर दिया और सर्वथा बागवान और बाग को निःसत्व कर डाला।

अस्तु, यद्यपि इस वाटिका की सर्वाङ्गसुन्दरता हर ली गई और पहले की सी पवित्रता-उज्वलता अब कलुषित और दगीली कर दी गई, फिर भी ऐसी-ऐसी क्यारियॉ इसमे मौजूद है कि जो जिस तरह के फल-फूल का रसिक है, वह यहाँ पहुँच, अपनी रुचि के अनुकूल उस तरह का पाय, मन-माना उसे छक कर, तृप्त और आघाया हुआ अपने को मालूम कर सकता

है। पहले हम अपने पढ़नेवालो को उस क्यारी के पास ले जाते है जो इस वाटिका के जीर्णारण्य मे सब ओर लंबी-लंबी घास और नुकीले सुये की भाँति चुभनेवाले काँटो से आवृत है, जहाँ पहुँच बाग के सैलानी को इस श्लोक के भावार्थ का भरपूर अनुभव होता है—

"पत्रपुष्पफललक्ष्मीः कदाप्यदृष्ट वृत च खलु शूकैः।
उपसर्पेम भवन्तं वद बर्बुर कस्य लोभिनः" ॥

इस क्यारी का गाटे का गाटा कंटकावृत्त होने से निकम्मा हो रहा है। जहाँ कहीं कोई पेड़ भी है तो विषफल उसमे फलते है, जिसके खाने, वालो की रग-रग मे उन फलो का असर, बैर–फूट व परस्पर की स्पर्द्धा, ईर्ष्या, द्रोह, मद, मात्सर्य के सिवाय और कुछ वहाँ हई नहीं। इन फूलो की तीखी महक और इसके फल का कडुआ रस दूर-दूर तक इस सपूर्ण वाटिका मे ऐसा व्याप गया है कि समस्त गुण-रजित होने पर भी यहाँ के पेड़ केवल फूट के कारण नहीं फलते। इस गाटे की धरती मे एक अनोखी बात देखने मे आई। ईसाइयो की धर्मपुस्तक मे लिखा है कि खुदा ने आदम को ज्ञान के पेड का फल खाने को मना किया था, पर इसके विरुद्ध यहाँ अज्ञान का वृक्ष न जानिए कहाँ से उग आया है कि जिसने अज्ञान के फल को चखा उसमे विज्ञता-संपादन की यावत् चेष्टा और प्रयत्न सब व्यर्थ होता है।

प्रिय पाठक! इस बाग के सैलानी बनते हो तो सावधान रहो, दत्तचित्त हो हमारी बात पर ध्यान दो। ऐसी न जानिये कितनी क्यारियाँ इसमे है, उनकी ओर न झुक पडना। ऐसा न हो कि उन विषैले फलो की हवा तुम्हे लग जाय और तुम इन फलो के खाने वालो के साथी बन जाओ। लो आगे चलो, देखो ये कैसी मनोहर क्यारियाँ हैं। इसके अनगिनित पेड, फूल और फलो से लदे लहलहाते हुए कैसी शोभा दे रहे हैं। इसके फूल-फल उन्ही को सुलभ हैं जो परिश्रमी, दृढसकल्प और उद्यमी है, जिनमे इतना साहस है कि काम पडने पर असीम महा-

सागर और दुर्गम खाडियो को "गोष्पद" गऊ के खुर के समान पार कर डालते है। 'किं दूरं व्यवसायिनाम्" ? इनका कला-कौशल, हाथ की कारीगरी, विज्ञान-चातुरी, शिल्प और वाणिज्य दूर-दूर के देश तक विख्यात रहा। इसी से बाग के माली का अनेक बार की लूट-पाट पर भी जरा मन न मटका, सदा सुख-चैन की दशा मे रहा आया। किन्तु थोड़े दिनो से अकाल-जलदोदय की भॉति एक ऐसी घटा उमड़ आई कि जो शिल्प और वाणिज्य दूर देश तक फैला था और जिसकी कदर की थाह न थी, खुरखुरा, भद्दा और मोटा वरन् घिन के लायक हो गया।

हम इसके मालिक को धन्यवाद देते हैं जो इस क्यारी की भूमि मे एक ऐसी खाद छोड चले कि विदेश से आई हुई वह घटा छिन्न-भिन्न हो गई। परदा जो ऑख के सामने था, हट गया, एक बारगी सब के सब चौक पडे, जैसे कोई सोते से जाग उठे। सोचने लगे हाय हम सब लोग किस मोह जाल मे पडे थे। अब नये सिरे से इन क्यारियो के पेडो को सीचने और साजने मे बडी सावधानी से दत्तचित हो रहे है। आशा होती है, अब यहॉ के फूल-फल पहले से भी अधिक सर्वग्राह्य होगे। बागवान् जो दीन दशा मे आ गया है, और इसके लडके-बाले जो काम न करने से भिखारी हो गए, बडे-बडे धनियो के समकक्ष हो जायॅ तो क्या अचरज ?

चलिए, अब आपको दूसरी क्यारी की सैर करावे, जहॉ की पुण्य-भूमि और पवित्र-स्थलियो मे कल्पवृक्ष-से पादप उपज कर, अपने जगद्विदित घ्राण-तर्पण सुरभित कुसुम की कुसुमावलियो से ससार की कौन ऐसी दार्शनिक-मण्डली, विविध कला-कोविद विद्वानो का समूह, कवि समाज तथा वैज्ञानिक बच रहे है जहॉ इन फूलो की सुगन्धि नहीं पहुँचाई। पेशगोई और नवृअत का झडा गाडे हुए धर्म के प्रचारक ईश्वर का एकलौता पुत्र तथा जगत् का त्राणकर्ता कह जिन्होने अपने को प्रसिद्ध किया था, वे भी इन क्यारी के वृक्षो का फल चख कृतकृत्य हो गए और यहॉ के अमोघ ज्ञान के दो-चार विन्दु पाय अघाय उठे। किन्तु हा ! कुचाली काल चाण्डाल का

सत्यानाश हो ! अकस्मात् ऐसा हिमपात हुआ कि इस बाग के सब पेड ठिठर-से गए और वे फल-फूल जो ऐहिक तथा आमुष्मिक ज्ञान, इहलोक और परलोक के उपकार-साधन का स्रोत या केन्द्र है, हिम के करका-पात से दबकर सब छिप गया। विदेशी सभ्यता और विदेशी शिक्षा की तो यही चेष्टा थी कि इस पवित्र ज्ञान के खजाने को सर्वथा निर्मूल और नष्ट-भ्रष्टकर डाले, किन्तु जो सत्य है उसका त्रिकाल मे नाश नही होता। Truth is always truth. दूसरे पूर्वज महर्षियो के तपोबल का प्रभाव और सत्य पर उनकी पूरी दृढता कैसे व्यर्थ हो सकती है ? वे ही प्रद्योतित हृदयवाले, जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा से बहक महात्मा-ऋषियो के अनुभव और ज्ञान को "नानसेन्स" कहने लगे थे, अब उसी को सत्य के पाने का द्वार मान रहे हैं।

इस क्यारी की शोभा के निरीक्षण मे हम कहाँ तक आपको बिलमाए रहे ? इसके एक-एक पेड ऐसे है जिनका पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए आपको महीनो और वर्षों चाहिए। चलिए, आगे बढ़िए, देखो सामने यह कवि-वाटिका की क्यारी लहलहाती हुई अनिर्वचनीय आनन्द-सन्दोह मन मे उपजा रही है। इसका यह एक अद्भुत प्रभाव है कि यहाँ पहुँच तुम्हारे मन-मधुप को कही और ठौर बिचरने की इच्छा ही न होगी, न उसे इतना अवकाश मिलेगा।"

"नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली।"

चलते-चलते आप थक गए होगे। इससे थोडा ठहर इन्ही द्रुम-कुञ्जों मे विश्राम ले तब आगे चलिए। तथास्तु (सैलानी बैठ गया, थोड़ा सुस्ता कर) व्यर्थ ही लोग अमृत को सराहते है, स्वर्ग मे देवगण निरन्तर अमृत का एक रस-पान करते-करते ऊब गये होंगे। इस वाटिका के शृङ्गार, वीर, करुणा आदि नौ रस का पान करते हुये धरती पर मनुष्यो को देख अपने को धिक्कारते होंगे। कालिदास, भवभूति सरीखे कवियो की सूक्ति का रसपान जिन्हे स्वप्न मे भी काहे को मिलता होगा।

"सत्कविरसनासूर्पी निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी ॥"

कवि ने अमृत से दयिताधर को उत्तम कहा है। सच है—अमृत निगोड़े को कहाँ इतना साहस जो कविता के दिव्य रस की तुलना कर सके। कवि ने पहले सुधादासी से दयिताधर को आदर दिया, फिर कविता के रस का स्मरण कर उसे भी भुला दिया। केवल कविता ही पर क्या, यह वाटिका तो रस की खान हो रही है। जिस विषय का जो रसिक है उसे अपने मन के माफिक विनोद यहाँ मिलना अतिसुलभ है। वाटिका की किस-किस बात की सराहना की जाय—यहाँ की धरती की उर्वरा-शक्ति, जल-वायु की मृदुता, समय-समय ऋतु का परिवर्तन, पृथ्वी के जिस भूभाग के जो हों, वे सब अपने-अपने घर का सुख यहाँ पा सकते है। इसी से जो यहाँ आए उन्होंने फिर अपनी जन्मभूमि मे लौट जाने का मन न किया और जो आए अब अपना स्वत्व ही इस पर स्थापित करते गए। अपनी पहिले की जरौरी-बरौरी को तिलांजलि दे उन्ही के समकक्ष बन गए जिनका मास और रुधिर अनादि काल से इस वाटिका की भूमि से सलग्न है। कदाचित् मेदिनी पृथ्वी का नाम इसी से पड़ गया कि पृथ्वी उन्हीं की मेदा-चर्बी की बनी है, अस्तु इस वाटिका का वर्तमान दृश्य देख यह निश्चय हो गया कि—

"प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणाना पराङ्मुखी विश्वजनस्य वृत्तिः"।

विधाता समग्र गुण एक ही मे रखने का बड़ा विरोधी है। जैसी यह सुललित वाटिका मन को रमाने वाली थी, भूमि समस्त गुण-सपन्न और फूल-फल भी सुगन्धित और मिठास मे अद्वितीय थे, वैसा ही इन फूलों मे आत्मगौरव क्यो न आया ? इनको अपने रूप का परिचय बिल्कुल न रहा, न जानिए कब से ये अपने को भूले हुए है। हमें खेद है कि अपने पास ही जापान की वाटिका का नवाभ्युत्थान देख इन्हे अपने पूर्व-रूप-सपादन का हौसिला क्यों नही होता है ? अनाथनाथ ! तू जो इन्हें सनाथ किया चाहे तो निमेष-मात्र में सब कुछ कर सकता है। सब तेरे अधीन है।

श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी

बनारसीदास चतुर्वेदी

"चित्तौर से खडवा जा रहा हूँ। इन्दौर स्टेशन बीच मे पडेगा। आप मुझसे वही मिलिए। गाडी सवेरे पहुँचती है।" सन् १९१५ मे श्रद्धेय गणेशजी ने एक कार्ड इस आशय का मुझे भेजा था। मैं उन दिनो इन्दौर मे ही अध्यापन-कार्य करता था। प्रातःकाल के समय स्टेशन के लिए चल पडा। पहले कभी उन्हें देखा नही था, इस लिए चिन्ता थी कि उन्हे पहचानूँगा कैसे। गाडी पॉच-सात मिनट से अधिक न ठहरती थी। इतने ही समय मे उन्हे तलाश करके बातचीत करनी थी। उनका नाम लेकर स्टेशन पर चिल्लाने मे तो अशिष्टता होती। गाडी आई, बीसियो यात्री नीचे उतरे। उनमे छरहरे बदन के और चश्मा लगाए हुए एक नवयुवक भी थे। समझ लिया हो न हो यही विद्यार्थी जी है! हिन्दी-सम्पादको मे किसी के मोटे होने की सम्भावना तो थी ही नहीं निकट जाकर पूछा "क्या आप ही प्रताप के सम्पादक हैं?"

"और आप फिजी के पडित तोतारामजी?'

"नही! पर मै उन्हीं का आदमी हूँ।"

उन दिनो मैंने पंडित तोतारामजी के कृपापूर्ण सहयोग से प्रवासी-भारतियो का कार्य प्रारम्भ किया था।

श्रद्धेय गणेशजी के प्रथम दर्शन मुझे इस प्रकार हुए। उन पाँच मिनटो की बातचीत ने भी हृदय पर काफी प्रभाव डाला। इसके बाद तो बीसियो बार श्रद्धेय गणेश जी से मिलने के अवसर प्राप्त हुए। एक बार वे मेरे यहाँ फीरोजाबाद भी पधारे और प्रताप कार्यालय तो अपना घर ही बन गया तथा गणेशजी अपने बन्धु। यद्यपि मुझे श्रद्धेय गणेशजी के उतने निकट पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ जितने निकट श्री माखनलाल जी, श्री कृष्णदत्त पालीवालजी, श्री श्रीराम शर्मा इत्यादि पहुँच सके, तथापि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझ पर उनकी जितनी कृपा थी, वह किसी से कम नहीं थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि उनके कितने ही बन्धु ऐसे है जो इस बात का दावा करते हैं कि उन्हीं पर उनका सबसे अधिक स्नेह था। गणेश जी एक सस्था थे, कार्यकर्ताओ के एक कुटुम्ब के पालक-पोषक थे। और उनके विशाल हृदय मे हम सबके लिए स्थान था। इस कुटुम्ब में क्रान्तिकारियो से लगाकर मेरे जैसे साहित्यिक भी थे, पर वे सब पर प्रेम रखते थे, सबके बंधु थे और सबसे ऊँचे थे। सबमे मिले हुए होने पर भी सबसे अलग थे।

उनका व्यक्तित्व निराला था। हिमालय की तराई मे खड़े हुए व्यक्ति के हृदय मे माउण्ट ऐवरेस्ट या गौरीशंकर की चोटी की ओर देखते हुए जिस प्रकार के भयमिश्रित सम्मान के भावो का उदय होता है, उसी प्रकार के भावो का उदय आज अमर शहीद विद्यार्थी जी के चरित्र की ओर दृष्टि डालने पर इन पक्तियो के लेखक के हृदय मे हो रहा है। उनके विषय मे अनेक मित्रो तथा भक्तो ने अपने-अपने सस्मरण लिखे है। एक पत्रकार-बन्धु की हैसियत से मैं भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। साथी पत्रकारों के साथ वे कैसा बर्ताव करते थे, उनका कितना ख्याल रखते थे और संकट के समय उनकी कितनी सहायता करते थे! श्रद्धेय विद्यार्थी जी के जीवन के इस पहलू पर इन पंक्तियों से शायद कुछ प्रकाश पडे।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धेय गणेश जी ने कितने ही युवकों को लेखक बनाया था और लेखको को पत्रकार। उन्होंने एक बार अपने एक सम्पादक मित्र से कहा था—"यह क्या बात है जी ! कि तुम्हारे पत्र को काम करते हुए इतने दिन हो गए और तुमने अभी तक एक भी अच्छा लेखक नहीं बना पाया ?" इस विषय मे गणेश जी अपने सुयोग्य गुरु द्विवेदी जी के सुयोग्य शिष्य थे। प्रताप के वायुमंडल मे बने और पनपे हुए कवियो, लेखको तथा सपादकों की संख्या काफी बडी है।

हिन्दी-पत्रकारो का जीवन कितना संकटमय होता है, यह भुक्तभोगी ही जानते हैं। ऐसे सकट के समय वह किसी-न-किसी का सहारा ढूंढ़ता है पर हिन्दी-सम्पादकों मे कितने ऐसे है जो सहानुभूतिपूर्ण उत्तर भी दें सकें, आर्थिक सहायता देना या दिलाना तो दूर की बात है। और दर-असल आर्थिक सहायता तो एक गौण चीज है। सहानुभूति के भूखे कष्ट-पीडित पत्रकार को Appreciation या दाद की जितनी जरूरत है, उतनी किसी दूसरी चीज की नही। वह अपने कष्टो को सन्तोषपूर्वक सहन कर सकता है, यदि उसे विश्वास दिला दिया जाय कि उसके जीवन का भी कुछ उपयोग है। गणेश जी एक सफल पत्रकार थे, मनोविज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे एक सहृदय मनुष्य थे। अपने सकटग्रस्त पत्रकार बन्धुओ की इस प्रकार सहायता करना कि उनके आत्मसम्मान को किसी प्रकार की ठेस न पहुँचने पावे, वे खूब जानते थे।

नवम्बर १९२० मे मैंने एक पत्र अपने विषय मे उन्हे लिख भेजा। १९१५ और १९२० के बीच मे उनसे घनिष्ट परिचय हो चुका था, इस कारण यह हिम्मत पडी। उन्होने इस पत्र का जो उत्तर भेजा, वह इतना उत्साहप्रद था कि उसे मैंने सार्टीफिकेट के लिफाफे मे रख छोडा, उसके कुछ अश उद्धृत करता हूँ, प्रारम्भ की प्रशसात्मक पंक्तियाँ छोड दी गई है—

१६।११।२०।

प्रियवर चतुर्वेदी जी,

वन्दे ।

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ ।.........आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदय से स्वीकार है। प्रताप आप का है। आप वैसे कहें, तो प्रताप की सारी शक्तियाँ आप के चरणों में अर्पित हो जायँ। Charity की बात नहीं। ऐसी आत्माओं के कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने काम का पोषण है, लक्ष्य-सिद्धि की ओर बढ़ना है। दैनिक प्रताप २२ तारीख से निकलने लगेगा। आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंक में एक बात पूरी हो जाय। आप हर मास १०,१२,१५ तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, प्रताप उसे आपके चरणों में रक्खेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकों से हम दैनिक में लिखावेंगे, उन्हें एक रुपया कालम देंगे, परन्तु आपके लिए आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी। योग्य सेवा का आदेश दें।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी।

महीने में २५,२६ दिन निकलनेवाले दैनिक पत्र में १०,१२, १५ लेख छापने का वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेख का मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो, कितनी भारी सहायता थी। यद्यपि इस सहायता के उपयोग करने का मौका ही नहीं आया, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी, पर आज भी उस सन्तोष का स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है जो उपर्युक्त पत्र के मिलने पर प्राप्त हुआ था

अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गणेशजी अपने पत्रकार बन्धुओं का बराबर ख्याल रखते थे। किन-किन कठिनाइयों में उन्हें काम करना पड़ता था, उसका अनुमान उनके एक पत्र के निम्न लिखित अंश से किया जा सकता है।

प्रिय चतुर्वेदीजी, वन्दे ।

आप बहुत नाराज होगे। आप लम्बे पत्र भेजते है, मै ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देता । क्या करूँ, मुझे काम की अधिकता की शिकायत नही है, मुझे शिकायत इस बात की है कि मैं इतना दुर्बल क्यो हूँ कि इतना कम काम कर पाता हूँ । यदि मै २४ घंटा काम कर सकता, तो आलस्य न करता । इस समय तो घूमना तक छूटा हुआ है। घर की चिन्ताओ से घर के बाहर निकलते ही छूट जाता हूँ, और बाहर से घर पहुँचते ही, घर की चिन्ताओ मे दब जाता हूँ । दोनो ओर खाई है । आज पॉच रात से बराबर जगकर दो बच्चों की, जिन्हे नियूमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूँ और दिन को जब कार्यालय मे आता हूँ तो प्रताप के कार्य में नही, दूसरे कामो की बाढ मे बह जाता हूँ । हालत उस तिनके की-सी है, जो तेज बहाव मे ठहर नही पाता और बहता ही चला जाता है । खैर, यह तो आत्म-कथा है और इतनी लम्बी-चौडी है कि कई पत्रो मे भी समाप्त नही हो सकती । कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे आदमी से आप अधिक आशा न कीजिए । लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताह से प्रताप ही मे कुछ नही लिख पाया हूँ । बाहर के किसी सज्जन के लिए लिखूँगा तो आपके लिए सबसे पहले लिखूँगा।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी ।

इस प्रकार व्यस्त रहने पर भी उन्हे यह बात नही भूलती थी कि उनका अमुक पत्रकार-बन्धु सकट मे है, उसे कही काम पर लगाना है । उनका एक पत्र यहॉ उद्धृत किया जाता है—

कानपुर १४।४।२७।

प्रिय चतुर्वेदीजी, वन्दे ।

आप प्रयाग के मेजर बसु और उनके पाणिनि आफिस को अवश्य जानते होंगे । मेजर साहब के पास दस-बारह हजार पुस्तके है । वे Indian Academy नाम की एक सस्था बनाना चाहते हैं, जहॉ कुछ विद्वान् बैठकर

भारतीय इतिहास के रिसर्च का काम करे। मेजर साहब के पास इस काम के लिए बहुत मसाला है। वे अपनी किताबे, कुछ जमीन और कुछ रुपया देना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि कोई सत्पात्र इस काम को उठा लेवे, और कई सज्जनो की एक कमेटी बन जाय जो आवश्यक फंड का प्रबन्ध कर ले। सुन्दरलालजी तथा मेरी दृष्टि आप पर पडी। क्या आप प्रयाग मे रह कर इस काम को आगे बढा सकते हैं? फंड की कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटनेवाला मिल जाय। मेजर बूढ़े आदमी हैं। वे कुछ लिखने का काम कर और करा सकते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि आपको सुविधा हो तो आप इलाहाबाद जाकर मेजर बसु और सुन्दरलाल जी से मिल लीजिए। इसमे जो खर्च होगा मै दूँगा। उत्तर शीघ्र दीजिए। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी

कौन हिन्दी सम्पादक ऐसा है जो अपने भाइयो का इतना ध्यान रखता है? काम तलाश करना और आने-जाने का खर्च भी अपने पास से देने के लिए कहना!

गणेश जी के बन्धुत्व मे कृत्रिमता नही थी, वह पूर्णतया स्वाभाविक थी। वे अपने साथियो से कामरेडशिप का बर्ताव करते थे और उन्हें खूब स्वतन्त्रता देते थे, यहाँ तक कि उनके साथी उन्हें उसी प्रकार खरी-खोटी सुना सकते थे, जिस प्रकार कोई अपने घर के बड़े भाई को सुना सकता है। इस प्रसग मे एक बात याद आ रही है। 'विशाल भारत' की आलोचना 'प्रताप' मे हो गई थी और वह काफी प्रशसात्मक भी थी; पर वह गणेशजी की लिखी नहीं थी। बस इसी बात से मैं असन्तुष्ट हो गया! इसके बाद प्रताप कार्यालय से एक ब्लाक उधार मँगाया, जो मैनेजर ने भेज दिया, पर साथ ही यह भी लिख दिया कि ब्लाक उधार देने मे हमें बड़ी असुविधा होती है। यह बात भी मुझे बुरी लगी। सोच लिया कि

कभी कानपुर पहुँचकर गणेशजी को खूब खरी-खोटी सुनाऊँगा । एक अवसर आ भी गया । कानपुर उतरा और प्रताप कार्यालय मे डेरा जा जमाया । गणेश जी उस समय ऑफिस मे थे नहीं । सामान रखकर एक कुर्सी पर बैठ गया । सामने मेज थी । गणेश जी आए । मैं उठने लगा । वे बोले, "अरे भाई बैठे भी रहो !" ऐसा कहकर कन्धो पर हाथ रख के कुर्सी पर बिठला दिया और स्वय मेज के सहारे खडे हो गए । मैने कहा, "मैं तो आज आपको Condemn करने आया हूँ, अच्छी तरह डॉट बताने के लिए !"

गणेश जी ने हँसकर कहा, "कहो भी तो क्या हुआ, आखिर बात क्या हुई ?"

मैंने कहा, "बात क्या है ! मैंने तय कर लिया है कि अब 'विशाल भारत' मे खूब घासलेटी किस्से छापा करूँगा । आपने अमुक घासलेटी पत्र की लम्बी आलोचना प्रताप मे की है और हमारे पत्र के विषय मे कुल जमा आठ-दस लाइनें निकली है, सो भी आपने नही लिखी" और भी न जाने क्या-क्या बात उस समय अभिमानवश कह गया, मानो गणेश जी कोई भयकर अपराधी हो और मैं कुर्सी पर बैठा हुआ जज !

गणेश जी मुस्कुराये और बोले "बस इतनी ही बात है ? यही मेरा घोर अपराध है ? अच्छा भाई अबकी बार खुद लिखूँगा ।"

मैने कहा, "दूसरा अपराध आपने और भी किया है । ब्लाक उधार नहीं दिए"

इस पर गणेश जी ने सारा किस्सा सुनाया ।

"दिल्ली के अमुक पत्र ने प्रताप के इतने ब्लाक हजम कर लिए, और फलॉ अखबार ने ब्लाको को बिलकुल खराब कर दिया । बताओ, इस हालत मे क्या किया जाय । आफिस को General instruction दे रखी है कि ब्लाक बाहर न भेजे जायॅ । तुम्हारी चिट्ठी आई होगी । मैनेजर ने जवाब दे दिया होगा । मै तो सब चिट्ठियॉ देखने से रहा । अच्छा अब

जो ब्लाक चाहो उठा ले जाओ। मैनेजर को मैं कह दूँगा, पर मैं यह तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि अगर तुम ऑफिस से ब्लाक उधार देना शुरू करोगे तो तुम्हे भी यही कटु अनुभव होगा।" गणेश जी की बात बिलकुल ठीक थी। मुझे भी आगे चलकर इस विषय मे वैसे ही कड़ुवे अनुभव हुए।

हिन्दी और अंग्रेजी के अनेकों सम्पादकों से मेरा परिचय है, पर किसी के सामने इस स्वतन्त्रता के साथ खरी-खोटी सुनाने की हिम्मत मुझमें नहीं है और कौन छुटभइयों को इतनी स्वतन्त्रता देता है? हाँ, यह कहना मैं भूल गया कि कुछ दिनों बाद गणेश जी ने 'विशाल भारत' की दो ढाई कालम की आलोचना स्वयं ही प्रताप मे की।

मेरा विचार बहुत दिनों से पूज्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जीवन-चरित लिखने का था, पर इसके लिए उनकी सेवा मे महीने-दो महीने रहने की आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नहीं थे। किसी से कहने की हिम्मत नही पड़ी। बहुत दिनो बाद यों ही मैंने गणेश-जी को भेजे गए एक पत्र में अपने इस पुराने विचार का जिक्र कर दिया। इस पर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

प्रिय चतुर्वेदीजी, वन्दे।

आपका ६ दिसम्बर का एक पत्र मेरी डाक मे पड़ा हुआ था। वह आज फिर दिखाई दिया। बीमारी के कारण उत्तर न दे सका था। आज कुछ समय मिला, इसीलिए आपके उस पत्र का उत्तर लिख रहा हूँ। दोनों आलोचनाएँ अर्थात् 'विशाल भारत' की और 'चॉद' के उस अंक की मेरी ही लिखी हुई थीं। आपने द्विवेदीजी के पत्र की नकल भेजकर मेरी धारणा को और भी दृढ कर दिया। मै उन्हें बहुत पहले से बहुत कोमल भावनाओं का व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-छोटी अनुकम्पा को नहीं भूलते, और अपने निकट के आदमियों को इतना चाहते है कि देख कर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपर से उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूर का

आदमी उनसे सदा घबडाया करता है। आपने वह अवसर बुरा छोडा। दो-चार सौ रुपए की तो कोई बात नही है। अब भी मै तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हे अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिए। आप जानते है कि 'जानसन' बडा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनी का लेखक 'बोसवेल' न बनता। आप पूज्य द्विवेदीजी के पास कुछ दिन अवश्य रह जाइए। सम्भव है, वे अभी जिएँ। किन्तु किसी के जीने के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। उनमे कितने ही ऐसे गुण हैं कि आनेवाली सतति उन गुणो की कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके 'बोसवेल' बन जाइए, जो खर्च पडे उसका जिम्मेदार मैं। आपके पास भी कामो की कमी नहीं है, किन्तु दो-तीन बार मे आप कुछ सप्ताहो का समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थना पर पूरी तरह ध्यान देगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहे।

आपका
ग० श० विद्यार्थी

मै ऐसे सपूतो को जानता हूँ, जो अपने पिता की स्मृति-रक्षा के लिए एक पैसा भी खर्च नही करना चाहते। बड़े परिश्रम के साथ मैने एक साहित्यसेवी के जीवन-चरित के लिए नोट लिए और मसाला संग्रह किया। जब मैने जीवन-चरित लिखने का विचार किया, तो उनके पुत्र बजाय कुछ मसाला भेजने के मुझ से मेरे नोट ही वापस मँगाने लगे। दूसरे महानुभाव बिना कुछ खर्च किए जीवन-चरित्र लिखाने की फिक्र मे है। विचारणीय बात यह भी है कि ये दोनो सज्जन खूब खाते-पीते खुशोखुर्रम है, पर पिता का सच्चा श्राद्ध करने के लिए न उनके पास पैसा है और न समय! इनकी तुलना कीजिए गणेशजी की उदारता से, जो आर्थिक सकट मे रहते हुए भी चार सौ रुपये तक केवल इसीलिए खर्च करने को तैयार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजी का जीवन-चरित लिखा जाय।

एकबार श्रद्धेय गणेशजी ने मुझे बहुत समझाया और कहा Self-Sacrifice (आत्मत्याग) और Suicide (आत्मघात)—ये दोनों अलग चीज है। अपने लेखों के लिए पुरस्कार लिया करो और बहुत दिनो तक उन्होने प्रताप से पाँच रुपया प्रति पृष्ठ के हिसाब से पुरस्कार दिया भी।

गणेशजी की इस प्रकार की कृपा केवल मुझी पर रही हो, सो बात नही। अनेक लेखक आज उनकी कृपाओ का स्मरण कर आँसू बहाते हैं।

अभी उस दिन एक पत्रकार ने कहा—

"मैं एक सज्जन से मिलने आगरे गया हुआ था। रेल से वापिस आने के लिए पैसे पास थे नहीं, और उन महाशय से मॉगने मे संकोच हुआ, इस लिए पैदल ही चल पडा। रास्ते मे एक महाशय मिल गए, जो गणेशजी के और मेरे, दोनो के परिचित थे। उन्हो ने बातचीत मे पूछा तो मैंने कारण बतला दिया। उन्होने यह बात कहीं गणेश जी से जाकर कह दी। बस उन्होने तुरन्त ही पचास रुपये का मनीआर्डर भेज दिया और लिखा 'तुम भी अजीब आदमी हो, भला अपनो से इतना संकोच ! हमें रूखी-सूखी खाने को मिलती है तो हम-तुम बॉटकर खा लेंगे।' पत्र के शब्द ठीक-ठीक ये नहीं थे, पर आशय यही था। मैं अपनी इस भूल पर कि मैंने उस आदमी से यह बात क्यो कही, बडा लज्जित हुआ।"

हमारे पडोसी एक दूसरे पत्रकार कहते हैं :—

"मुझे एक अत्यन्त आवश्यक घरेलू कार्य के लिए दो-सौ रुपये की जरूरत थी। कहीं से मिलने की सुविधा नहीं थी। गणेश जी के पास गया। प्रताप कार्यालय मे भी उस दिन रुपये नहीं थे। गणेश जी ने अपने एक साथी को बुलाकर कहा 'देखो जी मेरी जिम्मेदारी पर दो सौ रुपये अमुक दूकान से लाकर इनको दे दो। इनका काम चलने दो, फिर पीछे देखा जायगा।"

सत्याग्रह आश्रम की बात है। लडके को तेज बुखार आ गया था। मै घबरा गया। डाक्टर चार-पॉच मील पर रहते थे। बन्धुवर हरिभाऊ उपाध्याय के पास गया। वे लेख लिखने मे अत्यन्त व्यस्त थे। ज्यो ही मैने जिक्र किया, उन्होने तुरन्त ही कलम रख दी और साथ चल दिए। डाक्टर आए। लडका स्वस्थ हो गया। मैने हरिभाऊ जी से कहा "आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिए, इससे मुझे बड़ा हर्ष हुआ।" उन्होने कहा, "यह बात मैंने गणेश जी से सीखी। चाहे जैसा जरूरी काम वे कर रहे हो, यदि उन्हे यह मालूम हो जाय कि किसी बीमार के लिए उनकी सेवा की जरूरत है तो वे तुरन्त अपना काम छोडकर उस बीमार का काम करते है।"

सन् १९२४ के प्रारम्भ में पूर्व अफ्रिका जाते समय जहाज मे डेक पर यात्रा कर रहा था। श्रीमती सरोजिनी देवी ऊपर फर्स्ट क्लास मे थी। समुद्री बीमारी Sea-Sickness के मारे नाको दम था। चारो-ओर स्त्री-पुरुष कै कर रहे थे। मेरे लिए यह प्रथम बार की समुद्र यात्रा थी, इसलिए और भी घबडा रहा था। उस समय गणेश जी जेल मे थे। उनकी याद आ गई। मि० ऐन्ड्रूज का भी स्मरण हुआ। दिल मे सोचा कि क्या ही अच्छा होता, यदि दुनिया मे मि० ऐन्ड्रूज और गणेशजी-जैसे सहृदय व्यक्ति बहुत-से होते। अपने मन को शान्त करने के लिए उसी समय गणेशजी का एक छोटा-सा स्कैच अंग्रेजी मे लिखा। केनिया की राजधानी नैरोबी पहुँच कर मैने पहला काम यह किया कि टाइप करके उस स्कैच की एक प्रति लीडर को भेजी। यह लेख लीडर के २१ फरवरी सन् १९२४ के अंक मे प्रकाशित हुआ। उस लेख के दो वाक्यो का आशय निम्नलिखित है—

"प्रताप के उस प्रभाव के पीछे क्या है? गणेशशकर विद्यार्थी का व्यक्तित्व। वे अपने व्यवहार मे बिल्कुल कृत्रिमता नहीं रखते, उनका हृदय गरीबो के लिए द्रवीभूत हो जाता है और उनके मुखमण्डल से उनके

दीर्घ-कष्ट-सहन और पारदर्शी सचाई की आभा छिटकती है, गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व का अपना आकर्षण है। उन्होंने बहुत कष्ट उठाए हैं, अनेकों मुसीबतों का सामना किया है और उनके जीवन में असंख्य दुःखप्रद दिवस तथा चिन्ताकुल रजनी व्यतीत हुई हैं। उन्हें तीन बार जेल भेजा जा चुका है और कष्ट-सहिष्णुता में उनका रैकर्ड अद्वितीय है।

स्वार्थ-भावना से रहित, दरिद्रनारायण की सेवा के सिवा जिसकी कोई दूसरी आकांक्षा नहीं और अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध—चाहे वे किसी के द्वारा, पूँजीपतियों या सरकार की ओर से, अथवा अनियन्त्रित मानव-समूह द्वारा किए जाते हों—सदा खड़ा होने का जिसमें अदम्य साहस है, प्रताप के योद्धा सम्पादक वह गणेशजी भारत की भावी शक्तिशाली पत्रकारिता के प्रतिनिधि हैं।

× × × ×

गणेश जी हास्य-प्रिय भी खूब थे और उनसे हँसी-मजाक भी खूब होता था। गोरखपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में वे प्रधान थे। जब उनका स्वागत हो चुका तो मिलने पर उन्होंने पूछा "अरे भाई, तुमने यह क्या घासलेट का झगडा खडा कर दिया है?"

मैंने कहा—"एक औरत थी। उसने नया गहना (कंगन) बनवाया। किसी ने पूछा भी नहीं! बस उसने अपनी झोपडी में आग लगा दी। और हाथ उठा-उठाकर आग बुझाने के लिए चिल्लाने लगी। लोग बुझाने आए। एक ने पूछा—'तुमने यह गहना कब बनवाया?' उस औरत ने कहा—'अगर यह बात तुम पहले ही पूछ लेते तो इस झोपड़ी में आग क्यों लगती?' सो आप पहले से ही हमारा समर्थन करते, तो यह घासलेट आन्दोलन क्यों खड़ा होता।"

यह सुनकर गणेश जी खूब खिलखिलाकर हँस पड़े, और बोले—"अच्छा समझ गए। यह तुम्हारी Personal-vanity (व्यक्तिगत अहंकार) है।"

सम्मेलन में गणेश जी के सभापति होने से यही प्रतीत होता था कि सम्मेलन अपना ही है। उनको जब कुछ गौरव प्राप्त होता था तो उसे वे मानो अपने साथियो मे बॉट देते थे। गोरखपुर सम्मेलन मे उनके साथियो को यह प्रतीत होता था, मानों हम ही सभापति है। पर गणेश जी अपने कार्य मे या नियन्त्रण मे शिथिलता बिलकुल नहीं आने देते थे। बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' तथा शिवनारायण जी इत्यादि को उन्होंने खासी डाट बतलाई। मैं भी उनसे झगड पडा और मुझे भी फटकार सुननी पडी।

आज उस दीनबन्धु के लिए किसान रो रहे हैं। कौन उनकी उदर-ज्वाला को शान्त करने के लिए स्वय आग मे कूद पड़ेगा? मजदूर पछता रहे हैं, कौन उन पीडितो का सगठन करेगा? मवेशीखाने से भी बदतर देशी राज्यो के निवासी अश्रुपात कर रहे है, कौन उन मूक पशुओ को वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे है, कौन उनका दुखडा सुनेगा और सुनावेगा? राजनैतिक कार्यकर्ता रो रहे है, कौन उन्हे आश्रय देकर स्वय आफत मे फॅसेगा? कौन उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वातन्त्र्य-सग्राम मे चलेगा? और एक कोने मे पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार बधु भी अपने को निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहे हैं। आपत्काल मे कौन उन्हे सहारा देगा, किससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे, किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे, और कौन छुटभइयो का इतना ख्याल रखेगा?

देश मे बहुत से पत्रकार हुए हैं, और होगे। प्रभावशाली व्यक्तियो की भी कमी नही। लीडर भी बहुत-से है, शायद जरूरत से ज्यादा। कई से अपना परिचय भी है, कुछ की कृपा भी है, पर गणेशजी-जैसा पत्रकारो का सखा, उनके सकट का सहारा, दूसरा नहीं मिला। इस जीवन में मिलने की आशा भी नहीं।

———

साहित्य और राजनीति

रामधारीसिंह 'दिनकर'

वर्तमान हिन्दी कविता की भूमि मे आज एक कोलाहल-सा छा रहा है। लोग कहते हैं कि प्रगतिवाद के माध्यम से राजनीति साहित्य पर चढी आ रही है और जिस कला-कक्ष में फूल और पत्तो की सजावट होनी चाहिए थी, उसमें मजदूरों के गन्दे चीथडे, चिमनियो का धुआँ और खेतो की धूल भरती जा रही है। शुद्ध कला के उपासको को यह जानकर चिन्ता हो रही है कि साहित्य राजनीति के हाथ का रणवाद्य बनता जा रहा है और उसके प्राणो की कलामयी दीप्ति दिनों-दिन क्षीण होती जा रही है।

दूसरी ओर प्रगतिवाद के उन्नायको का वह दल है जो शुद्ध कला की कृतियों को आनन्द एवं पलायन का प्रयास कहकर उसकी हँसी उड़ाता है तथा सच्चे मन से विश्वास करता है कि जब जीवन मे आँधी चल रही हो, दुनियाँ की कौमे हिस्टीरिया मे मुब्तिला होकर आपस मे पगले कुत्तों की तरह झगड रही हों तथा पराधीन राष्ट्र अपने गले की तौकें उतार फेंकने के लिए बड़े-बडे आन्दोलन चला रहे हों, ऐसे समय मे कवि का अपनी वैयक्तिक अनुभूति के माया-बन्ध मे बँधे रह जाना जीवन के प्रति साहित्य की दायित्व-हीनता का प्रमाण है। प्रगतिवादियो का यह दल

चाहता है कि समाज की इस सङ्कटपूर्ण घड़ी मे साहित्य अपने कल्पना के मायालोक से उतर कर पृथ्वी पर आए और मनुष्य को उन समस्याओं पर विजय प्राप्त करने मे सहयोग दे जो आज समग्र विश्व को आपादमस्तक हिला रही है। प्रगतिवाद का आग्रह है कि लेखक और कवि अपनी अनुभूति के वृत्त को अधिक विस्तृत बनाएँ तथा उस विशाल जन-समुदाय की ओर भी देखे जो बहुत दिनो से उपेक्षित और विषण्ण रहा है। ससार की सस्कृति पर कब्जा करने के लिए सर्वहारा का जो विशाल समुदाय निम्नस्तर से उठता हुआ ऊपर की ओर आ रहा है, प्रगतिवाद उसे आगे बढकर गले लगाना चाहता है तथा साहित्य को निष्क्रियता से खीचकर उस मार्ग पर आरूढ करना चाहता है जिसका सीधा प्रसार भविष्य की ओर है।

प्रगतिवाद को मै हिन्दी-कविता का कोई नया जागरण नहीं मानता। खडी बोली की कविता मे जागरण की एक ही लहर आई थी, जिसे हम छायावाद के नाम से जानते है, और १६२० ई० से लेकर आज तक कविता के क्षेत्र मे जो भी रूपान्तर देखने को मिले है वे इसी जागर्त्ति के परिपाक की प्रक्रिया के परिणाम है। काव्य का जागरण-काल वह होता है जब जनता कविता की विलक्षणताओ के प्रति आकृष्ट होती है। प्रगतिवाद के प्रति जनता की वर्त्तमान अनुरक्ति का कारण प्रगतिशील रचनाओ की विलक्षणताएँ नही, प्रत्युत उनके भीतर से दमकनेवाले सामयिक जीवन का तेज है। जनता की अनुरक्ति अथवा कौतूहल के आधार पर किसी आन्दोलन को काव्य की जागर्ति का प्रमाण मानने के पूर्व हमे जनता को यह भी समझा देना चाहिए कि जो बातें कविता मे कही जाती हैं वे ही बाते, कला के चमत्कार के विनाश के बिना, गद्य मे नही कही जा सकती।

प्रगतिवाद साहित्य का नूतन जागरण नही, प्रत्युत उसी क्रान्ति के परिपाक का फल है जिसका आरम्भ छायावाद के साथ हुआ था। यह

सच है कि छायावाद की कुछ आरंभिक रचनाएँ अशक्त और निःसार थीं तथा जीवन के वास्तविक रूपों से उनका संबंध नहीं के बराबर था; किन्तु यह दोष छायावाद से निकली हुई शैली का नहीं; प्रत्युत उन कलाकारों का था जो स्वयं ही जीवन के वास्तविक रूपों से पूर्णरूप से परिचित नहीं थे। प्रत्येक देश के साहित्य में छायावाद या रोमांसवाद का आगमन प्रायः उस समय हुआ है जिस समय उस देश में जीवन की रूढ़ियों और जड़ताओं के प्रति असंतोष के भाव उमड़ रहे थे। हिन्दी-साहित्य में भी अपनी समस्त असमर्थता एवं अशक्तताओं के रहते हुए भी छायावाद ने अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को कभी भी विलुप्त नहीं होने दिया तथा जो राजनीतिक आन्दोलन आज प्रगतिवाद का बीज बो रहे हैं; उनके प्रति छायावाद का रुख आरम्भ से ही सहानुभूतिपूर्ण था।

छायावाद में अनेक प्रकार की संभावनाएँ छिपी हुई थीं तथा ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था त्यों-त्यों उसके कितने जौहर प्रकट होते जाते थे। १६२० से लेकर १६३०—३५ तक छायावाद ने कई प्रकार की प्रतिभाओं की संगति में रहकर अपनी अनेक प्रकार की क्षमताओं की परीक्षा दी थी। पन्त जी ने उससे ओस और ऊषा को चित्रित करने का काम लिया था तथा निराला जी ने उसके माध्यम से पौरुष और जागरण के महागान गाए थे। प्रसाद जी की गंभीर एवं रसस्निग्ध दार्शनिकता का भार उसने सफलतापूर्वक वहन किया था तथा 'अन्तर्जगत्' और अनुभूति के कवियों की वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में उसने पूरी सहायता पहुँचाई थी। इतना ही नहीं, वरन् महादेवी जी के समान जो कवि कुहेलिका के भीतर छिपकर चलना चाहते थे, छायावाद उन पर भी अपना झिलमिल आवरण डाल सकता था तथा सुभद्रा कुमारी की तरह जो लोग प्रकाश में कुछ खुलकर चलना चाहते थे उन्हें भी वह आलोक दे सकता था। पुष्ट एवं प्रगाढ़ भावनाओं के समर्थ कवि श्री मैथिलीशरण जी की कल्पना में अपनी मायाविनी किरणें डालकर छायावाद

ने उनसे 'झंकार' के गीतो की रचना करवाई थी तथा हिन्दी की इति-वृत्तात्मक कही जानेवाली राष्ट्रीय कविताओ को उसने स्पर्शमात्र से कलापूर्ण एव दिव्य बना दिया था।

ज्यो-ज्यो बाढ का पानी निकलता गया, छायावाद की धारा स्वच्छ एवं स्वास्थ्यपूर्ण होती गई। आज छायावाद की आदि-कुहेलिका का कही पता नही है। अब हमारे साहित्य मे प्रायः सर्वत्र ही प्रतिभा की पुष्ट एव सुस्पष्ट किरणें विकीर्ण हो रही है। जो कल्पना पहले भ्रूण की तरह अस्थि-विहीन दीखती थी, उसके भीतर आज विचारो की रीढ़ पैदा हो गई है तथा वह यथेष्ट रूप से मासल और बलिष्ठ है। 'अन्तर्जगत्', 'अनुभूति' और 'नीहार' के सोपान बहुत पीछे छूट चुके हैं। आज हिन्दी-कविता जहाँ आकर खडी है वह 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'ग्राम्या' का देश है। स्वयं महादेवी जी की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अब अधिक सुबोध एवं सुस्पष्ट हो गई हैं तथा निराशा के जो अश्रु छायावाद को अशक्त बनाए हुए थे उनकी जगह अब 'सतरंगिनी' के रग उगते जा रहे है।

यह छायावाद के सुधार की प्रक्रिया का परिणाम है और इसे ही मै काव्य की सच्ची प्रगति मानता हूँ। हमारा साहित्य आकाश से उतर कर मिट्टी की ओर आ रहा है तथा वस्तु एवं आदर्श के इस सतुलित योग से वह महान् क्रान्ति चरितार्थ होने जा रही है, साहित्य मे जिसकी घोषणा आज से २५ वर्ष पूर्व की जा चुकी थी। आज हिन्दी के अधिकाश कवि जीवन के उतने समीप आ गए है जहाँ से वे उसके कोलाहल को स्पष्टता-पूर्वक सुन सकें। 'मिट्टी और फूल' से लेकर 'तारसप्तक' तक यही ध्वनित होता है। साहित्य मे जीवन के इस प्रतिनाद को जो लोग प्रगतिवाद कहकर एक भिन्न नाम से पुकारना चाहते हैं, उनसे मेरा कोई बड़ा मतभेद नहीं हो सकता। सिर्फ निजी दृष्टिकोण से मैं इसे छायावाद का जीवनोन्मुख विकास मानता हूँ। यह कथन इसलिए भी युक्तियुक्त माना जाना चाहिए कि प्रगतिवाद के अन्दर गिने जानेवाले अधिकाश कवि वे ही हैं जो

छायावाद का नयन अथवा अनुगमन करते हुए यहाँ तक आए है। यही नहीं, प्रत्युत प्रगतिवाद का अग्रणी होने का श्रेय आज जिस कवि को दिया जा रहा है उसी के सिर पर छायावाद का उन्नायक होने का मुकुट भी रखा गया था। इसके सिवा, समासोक्ति, अन्योक्ति, विशेषण-विपर्यय अथवा मानवीकरण, शैली-पक्ष की कितनी ही विशेषताएँ आज भी वे ही है जिनका नूतन उत्थान और विकास छायावाद-युग मे ही हुआ था।

हमे हर्षित होना चाहिए कि छायावाद की विलक्षणताओ से युक्त हिन्दी-कविता आज जीवन के विकराल प्रश्नो से उलझना सीख रही है। कवि केवल भावनाओ का ही उपासक नहीं होता, प्रत्युत उसे कठोरताओं से भी जूझने का पूरा अधिकार है। अगर कोई कलाकार यह समझता है कि वह कॉटो की तसवीर सुन्दरता के साथ खींच सकता है तो कला का कोई ऐसा कानून नही जो उसकी इस क्रिया का वर्जन करे। अगर किसी कवि को ऐसा ज्ञात होता है कि वह अपने गीतो के बल से ससार मे भूडोल ला सकता है तो उचित है कि सबसे पहले वह यही काम करे। सार्वजनिक विपत्ति के दिनों मे ऐसा कौन अभागा मनुष्य होगा जो अपनी वैयक्तिक भावनाओ को उचित से अधिक महत्व दे सके? इतना ही नहीं, बल्कि साहित्य की बल-वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक है कि कवि कला के भीतर से जीवन के उन तमाम क्षेत्रों को देखे जिनकी आँधियों और उलझनों का प्रभाव मनुष्य की सस्कृति पर व्यापक रूप से पडता है। अगर वह प्रचारक न होकर शुद्ध कलाकार है तो जीवन को वह दर्शन, राजनीति अथवा विज्ञान, चाहे जिस किसी भी दृष्टि से देखे, उसकी अनुभूति कवि की अनुभूति तथा उसके उद्‌गार कलाकार के उद्‌गार होंगे एवं साहित्य का उसके हाथो कोई अपमान नही हो सकता।

कवि का प्रधान कर्म अनुभूतियों का ग्रहण एव उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति है तथा जिस प्रकार उसकी आध्यात्मिक भावना एव प्रेमपरक अनुभूतियाँ सुन्दर और सत्य होती है, उसी प्रकार राजनीतिक अवस्थाओ

की भी उसकी स्वानुभूति राजनीति से भिन्न एवं शुद्ध साहित्य की वस्तु होती है। जो लोग यह समझते हैं कि केवल प्रेम, विरह, नदी और फूलो की ही अनुभूतियॉ सच्ची और बाकी सबकी सब प्रचार होती हैं, वे कोमलता की रुचि से ग्रस्त होने के कारण सत्य के पूरे रूप को देख सकने मे असमर्थ है। रेशमी बालो, पत्थरों और फूलो की सुन्दरता की अनुभूति तो सच्ची, किन्तु पेट की पीड़ा की अनुभूति प्रचार समझी जाय, यह ईश्वर के देखने योग्य दृश्य है।

कला के क्षेत्र मे हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम तथा अन्तिम बन्धन हो सकता है वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आप के प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे। समन्वय कला की सुन्दरता का मूल है। जिस प्रकार आकाश मे विचरण करनेवाले कलाकार को पैरो के नीचेवाली मिट्टी का ध्यान बनाए रहना आवश्यक है, उसी प्रकार मिट्टी को सर्वस्व समझ लेनेवाले कलाकार को यह याद रखना जरूरी है कि उसका विहार-स्थल आकाश भी है। कवि जिस प्रकार फूलो और नदियो के पास केवल रसानुभूति के उद्देश्य से जाता है, उसी प्रकार जीवन के अन्य अंगो से भी वह रस ही प्राप्त करता है। हम पूरे दायित्व के साथ कहना चाहते हैं कि पेट की पीडा की अनुभूति लिखनेवाला कवि किसी प्रकार भी प्रेम की पीड़ा की अनुभूति लिखनेवाले से हीन नही है।

साहित्य राजनीति का अनुचर नही, वरन् उससे भिन्न एक स्वतन्त्र देवता है और उसे पूरा अधिकार है कि जीवन के विशाल क्षेत्र मे से वह अपने काम के योग्य वे सभी द्रव्य उठा ले जिन्हे राजनीति अपने काम मे लाती है। यदि कार्ल मार्क्स और गॉधीजी को यह अधिकार प्राप्त है कि जीवन के अवस्था-विशेष की अनुभूति से वे राजनीति का सिद्धान्त निकाल लें, तो एक कवि को भी यह अधिकार सुलभ होना चाहिए कि वह ठीक उसी अवस्था की कलात्मक अनुभूति से ज्वलन्त काव्य की सृष्टि करे। अगर

राजनीति अपनी शक्ति से सत्य की प्रतिमा गढ़कर तैयार कर सकती है, तो साहित्य मे भी इतना सामर्थ्य है कि वह उसके मुख मे जीभ धर दे।

साहित्य के क्षेत्र में हम न तो गोयब्रेल्स की सत्ता मानने को तैयार है, जो हमसे नाजीवाद का समर्थन लिखवाता है और न किसी स्टालिन की ही, जो हमारे शरीर और मन के किसी भी विकास की दिशा का निर्धारण हमे करने नहीं दे सकता। हमारे लिए फरमान न तो क्रेमलिन से आ सकता है और न आनन्दभवन से ही। अपने क्षेत्र मे तो हम सिर्फ उन्ही नियन्त्रणों को स्वीकार करेंगे जिन्हे साहित्य की कला अनन्त काल से मानती चली आ रही है। साहित्य की विलक्षणता की जॉच आर्थिक सिद्धान्तो से करनेवाले लोग ठीक उसी प्रकार भ्रान्त हैं जैसे वे लोग, जो समग्र साहित्य की परीक्षा केवल कोमलता के रूढ सस्कारों की पृष्ठभूमि पर करना चाहते हैं।

साहित्य राजनीति से महान् न भी हो, तो भी वह उससे सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र है। अगर वह कभी राजनीति के क्षेत्र में अपनी किरणें फेकता है तो इसका कारण यह नही है कि साहित्य राजनीति के अधीन है, प्रत्युत यह है कि राजनीति उस जीवन का एक प्रमुख अंग है जो अपनी पूरी विविधता के साथ साहित्य की व्याख्या का विषय होता है। जिस प्रकार साहित्य जीवन के अन्य अंगों से रसानुभूति प्राप्त करता है उसी प्रकार राजनीति से भी वह रस ही ग्रहण करता है। साहित्य जहॉ तक अपनी मर्यादा के भीतर रहकर जीवन के विशाल क्षेत्र मे अपना स्वर ऊँचा करता है, वहॉ तक वह पूज्य और चिरायु है, किन्तु जभी वह राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके उसका प्रचार करने लगेगा तभी उसकी अपनी दीप्ति छिन जायगी और वह कला के उच्च पद से पतित हो जायगा। साहित्य स्वयं जागरूक और चैतन्य है। विशेषतः कविता की प्रतिष्ठा ही विशिष्ट प्रकार के कवियों के कारण होती है जो अपने ही युग मे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक जीवित और चैतन्य होते हैं। प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि उसके आगमन के साथ यह रहस्य खुलने लगता है कि उस

युग की चेतना किस दिशा मे अथवा किस स्तर तक विकसित हुई है। संघ रचकर साहित्य को किसी दिशा-विशेष की ओर प्रेरित करने का प्रयास यह बतलाता है कि आन्दोलनकारियो का साहित्य की निसर्ग-सिद्ध जागरूकता मे विश्वास नहीं। किन्तु ऐसे लोगो को यह भी याद रखना चाहिए कि जिस अनुभूति को साहित्य स्वतः ग्रहण करने को तैयार नहीं है, उसकी ओर उसे जबरन ले जाने का प्रयास अप्राकृतिक और तिरस्कार्य है, क्योंकि किसी दल या संघ मे यह शक्ति नही है कि वह विश्वास के विपरीत अथवा उसके बिना किसी भी कवि या लेखक से सत्साहित्य का एक टुकड़ा भी लिखवा ले।

किसी भी कृति को मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कसौटी पर कस कर उसे क्रान्तिकारी अथवा श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा अयुक्तियुक्त एव अन्यायपूर्ण है, क्योकि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त वे ही नही हैं जिनसे कला की जॉच की जाती है। मनुष्य को भूख इसलिए नहीं लगती कि उसके पास रोटी खरीदने के लिए पैसे मौजूद है और न पैसो के अभाव मे उसकी क्षुधा रुकी ही रहती है। उसी प्रकार कला भी आत्मा की प्रेरणा से तथा उसकी आवश्यकताओ के अनुसार जन्म ग्रहण करती है। मार्क्सवाद यह भले ही बतला दे कि किसी कला के रूप-विशेष का विकास किसी युग-विशेष मे ही क्यों हुआ, किन्तु उसका यह धर्म नहीं है कि वह आन्दोलनों के द्वारा अपनी राजनीतिक आवश्यकताओ के अनुसार साहित्य की रूप-रेखा को पलटने का प्रयास करे।

हिन्दी-कविता स्वयं सॅभलकर, अपनी ही चेतना से प्रेरित होकर, जीवन के समीप आ गई है। अब उसे प्रचार के हल मे जोतना उसके साथ अन्याय करना है। फिर मार्क्सवाद जिस समाज की कल्पना का लोभ दिखाकर साहित्य को अनुकरण की ओर प्रेरित कर रहा है, वह भी कला के स्वाभाविक विकास के लिए घातक हो सकता है। यह आवश्यक नही कि सभी देशो के समाज के नवनिर्माण की रूप-रेखा ठीक वही हो, जिसकी प्रेरणा रूस से आ रही है। प्रत्येक देश की अपनी समस्याएँ, अपनी परि-

स्थितियाँ और अपने प्रश्न हैं। उन्हीं के अनुरूप वहाँ समाज और कला का स्वाभाविक विकास होना चाहिए। जहाँ अन्तरराष्ट्रीयता के एक ढाँचे को आदर्श कहकर उसे सभी देशों पर लादने की कोशिश की जाती है, वहाँ समाज और साहित्य, दोनों के ही रूप अप्राकृतिक एवं अनुकरणशील हो जा सकते हैं। हमारे यहाँ की कला की कृतियों की जाँच हमारी ही आवश्यकताओं की पृष्ठ-भूमि पर की जानी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीयता के नारों के बीच राष्ट्रीयता को दबा देने का प्रयास हमारे लिए मंगलकारी नहीं हो सकता।

हम पराधीन जाति के सदस्य हैं। अन्तरराष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा। राष्ट्रीयता हमारा सबसे महान् धर्म और पराधीनता हमारी सबसे बड़ी समस्या है। जो लोग हमें अन्तरराष्ट्रीयता के भुलावे में डालकर हमारी आँखों को दिल्ली से हटाकर अन्यत्र ले जाना चाहते हैं, वे अवश्य ही हमें धोखा दे रहे हैं।

मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त का एक-एक बिन्दु दिल्ली के लिए अर्पित है। जब तक दिल्ली दूर है, मास्को के निकट या दूर होने से हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पराधीन देश का मनुष्य सब से पहले अपने ही देश का मनुष्य होता है। विश्व-मानव वह किस बल पर बने और विश्व-मानव की पंक्ति में गुलामों को बैठने ही कौन देता है? हमारे समस्त अभियानों का एक मात्र स्पष्ट लक्ष्य दिल्ली है। जब तक दिल्ली की जंजीरें नहीं टूटतीं, हमारे अन्तरराष्ट्रीयता के नारे निष्फल और निस्सार हैं। मास्को के उत्थान या पतन से भारत, के गौरव या ग्लानि की वृद्धि नहीं होती। हमारे अपमान की आग तो दिल्ली में जल रही है।

———

अशोक के फूल

हजारीप्रसाद द्विवेदी

अशोक मे फिर फूल आ गए है। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के स्तबको मे कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझ कर कन्दर्प-देवता ने लाखो मनोहर पुष्पो को छोडकर सिर्फ पॉच को ही अपने तूणीर मे स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नही कि सुन्दर वस्तुओ को हतभाग्य समझने मे मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगो को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होगे, कुछ थोडा-सा मै भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य मे और इसीलिए जीवन मे भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार है। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष मे इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था, परन्तु कालिदास के काव्यो मे यह जिस शोभा और सौकुमार्य

का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था ! उस प्रवेश मे नव वधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुप-चाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद मे भी ले लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो संमान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिञ्जनकारी नूपुरवाले चरणो के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप मे झूलता था और चंचल नील अलकों की अचचल शोभा को सौगुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन मे क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के मन मे सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कन्धे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रगमंच पर आता है और दर्शको को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यो ऐसा हुआ ! कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियो की दुनियाँ मे ज्यो-की-त्यो है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका ! नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नही है, किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नही। भुलाया गया और अशोक मेरा मन उमड-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरबस जाना चाहता है। क्या मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या खो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड को सारे उत्तर भारत मे अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होना क्या है ? ईसवी सन् के आरंभ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और

शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियो के परिचित यक्षो और गन्धर्वो ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पडितो ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियो के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि काम-देवता का नाम हो गया है तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिडने जाकर यह एक बार पिट चुके थे, विष्णु से भी डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आए थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नही। नये-नये अस्त्रो का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्धधर्म को इस नये अस्त्र से उन्होने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को महामानव-समुद्र कहा है। विचित्र देश है यह ! असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गन्धर्व आए—न जाने कितनी जातियाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने मे अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानो का मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियो का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है ? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है ? न जाने किस बुरे मुहूर्त मे मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जल कर राख हो गया और वामन पुराण [षष्ठ अध्याय] की गवाही पर हमें मालूम है कि

उनका रत्नमय धनुष टूक-टूक होकर खण्ड-खण्ड धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी वह स्थान रुक्ममणि से बना था, वह टूट कर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाभि-स्थान था वह टूट कर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पो में बदल गया! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील मणियो का बना हुआ कोटिदेश भी टूट गया और सुन्दर पाटल पुष्पों मे परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त मणियो का बना हुआ मध्यदेश टूट कर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलो मे बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं!

परन्तु मै दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का क्या रहस्य है? यह क्या पुराणकार की कोमल कल्पना है या ये फूल भारतीय संसार मे सचमुच गंधर्वों की देन है? एक निश्चितकाल के पूर्व इन फूलो की चर्चा हमारे साहित्य मे मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रंथो मे यज्ञ की विधि मे यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल क्या उन्हीं से मिले!

कुछ बाते तो मेरे मस्तिष्क मे बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। कुबेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थो में भी स्वीकृत हैं तथापि पुराने साहित्य मे ये अपदेवता के रूप मे ही मिलते है। बौद्ध साहित्य मे तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताए गए हैं। महाभारत मे ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमे सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तानार्थिनी होकर जाया करती थीं! यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरताजनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षयनिधि के अधीश्वर भी हैं। यक्ष्मा नामक रोग के साथ भी इन लोगो का सबंध जोडा जाता है। भरहुत, बोध-

गया, साँची आदि मे उत्कीर्ण मूर्तियो मे सन्तानार्थिनी स्त्रियो का यक्षो के सान्निध्य के लिए वृक्षो के पास जाना अकित है। इन वृक्षो के पास अकित मूर्त्तियो की स्त्रियाँ प्रायः नग्न है, केवल कटि देश मे एक चौडी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षो मे सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियो के चरण-ताडन से उसमे दोहद का सचार होता है। और परवर्त्ती धर्म ग्रन्थो से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियो के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प मे बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं। सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओ मे सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मर-वर्द्धक होता है। इन सारी बातो का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन-काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश मे दूर तक उडना चाहता है। हाय, पख कहाँ है?

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमे सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियो का सघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नही मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थी। सघर्ष खूब हुआ। पुराणो मे इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद मे देवयोनि-जात मान ली गई। पहला सघर्ष शायद असुरो से हुआ। यह बडी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नही माना। फिर दानवों, दैत्यो और राक्षसो से सघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई सघर्ष नही हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थी। भरहुत, साँची, मथुरा आदि मे प्राप्त यक्षिणी-मूर्त्तियों की गठन और बनावट देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाडी थी। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसाइटी' कहते है। शायद इससे भी अधिक

आदिम। परन्तु वे नाच-गान मे कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों की भाँति कृषि-पूर्व-स्थिति मे भी नहीं थे और राक्षसो और असुरो की भाँति व्यापार-वाणिज्यवाली स्थिति मे भी नहीं। वे मणियों और रत्नो का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गडी हुई निधियो की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। संभवतः इसी कारण उनमे विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्त्तीकाल मे यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनो की थोडी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व-सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ यह सब पुरानी बातें क्यों रटीं जायँ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने मे आर्य लोगो को अनेक जातियो से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थी, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, दानव, और दैत्य पहली श्रेणी मे तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी मे आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बडी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वा और यक्षो की देन है। प्राचीन साहित्य मे इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बडा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक को नहीं, वरन् उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' मे बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबको को देखता हूँ तब मुझे वह पुराना वातावरण दिखाई दे जाता है। राज-घरानो मे साधारणतः रानी ही

अपने सनूपुर चरणो के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थी। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथो मे अशोक-पल्लवो का कोमल-तर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हलकी रुनझुन और ऊपर लाल फूलो का उल्लास! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुकुम, चदन और पुष्प-सभार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थी और बाद मे सुकुमार-भंगिमा से पति के चरणो पर बसन्त-पुष्पो की अंजलि बखेर देती थी। मै सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबको मे वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है? इन फूलो के साथ क्या मामूली स्मृति जुडी हुई है? भारतवर्ष का सुवर्णयुग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं दुनिया बडी भुलक्कड है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंक कर आगे बढ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नही सधा। क्यो उसे वह याद रखती! सारा ससार स्वार्थ का अखाडा ही तो है!

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलकारमय हो, परन्तु वह विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक है, जो साधारण प्रजा के परिश्रमो पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बडी हुई थी, और लाखो-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड गए, साम्राज्य ढह गए और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियो को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारो वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बडी निर्मम है, वह सभ्यता और सस्कृति के वृथा- मोहो को रौदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारो, विश्वासो, उत्सवो और व्रतो को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। सघर्षों से मनुष्यो ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का जो रूप आज है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग की परिणति है। देश और जाति की विशुद्ध सस्कृति केवल बात की बात है । सब कुछ मे मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा मे सब कुछ बह जाते है। जितना-कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका इसका अंग बन जाता है; बाकी इसके बाहर फेक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन देवता का गर्व खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार मे क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है ? आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आशक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जडिमा है, उसमे कितना भाग तुम्हारे कुण्ठ-नृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है ! मनुष्य की जीवनधारा फिर अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस सहृदय के हृदय के कोने मे उदासी की रेखा खेल उठेगी ? जिन बातो को मै अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमे कितनी जिएँगी, कितनी बह जायँगी, कौन जानता है ? मै क्या शोक से

उदास हुआ हूँ ? माया काटे कटती नही। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे है। अशोक के फूल ही नही किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास जैसे कलाकवि ने अशोक के पुष्पो को ही नहीं किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता के कानो मे झूम रहा हो—

किसलय प्रसवोऽपि विलासिना मदयिता दयिताश्रवणार्पितः।

परन्तु शाखाओं मे लंबित, वायुलुलित किसलयो मे भी मादकता है। मेरी नस-नस मे आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य सस्कृति मान रहे है, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? सम्राटो और सामन्तो ने जिस आचारनिष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्माचारियो ने जिस ज्ञान-वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसो के अनुकरण पर जो रस-राशि उमडी थी, वह वाष्प की भाँति उड गई, तो क्या यह मध्य के ककाल मे खिला व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती खिसकेगी। उनके कुण्ठ नृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ न कुछ लपेटकर ले जायगी, सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियो की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होने दिया। पर न जाने कब यक्षो के वज्रपाणि-नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म मे घुसे और बोधिसत्वो के शिरोमणि बन गए। फिर वज्रमान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों मे मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक आँधी थी। इसमे बौद्ध बह गए, शैव बह गए, शक्ति बह गए। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार मे सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख

११

रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था। कौन बतायेगा कि कितने विध्वस के बाद इस अपूर्व धर्ममत की सृष्टि हुई थी। अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परंपरा ढोए आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है।

मगर उदास होना भी बेकाम ही है। अशोक आज भी उसी मौज मे है जिसमे आज से दो हजार वर्ष पहले था। कही भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ नही बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति! यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नही बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक सघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ-घर्घर चल पडता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता तो बडा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसे देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है। जितनी भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। उस अवस्था मे उदास भी नहीं रहा करती। कहाँ! अशोक का कुछ भी तो नही बिगड़ा है! कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढग से! मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!



ईर्ष्या

रामचन्द्र शुक्ल

जैसे दूसरे के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है जिसे ईर्ष्या कहते है ईर्ष्या की उत्पत्ति कई भावो के संयोग से होती है, इससे इसका प्रादुर्भाव बच्चो मे कुछ देर मे देखा जाता है और पशुओ मे तो शायद होता ही न हो। ईर्ष्या एक सकर भाव है जिसकी सप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। जब दो बच्चे किसी खिलौने के लिए झगड़ते हैं, तब कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक उस खिलौने को लेकर फोड़ देता है जिससे वह किसी के काम मे नही आता। इससे अनुमान हो सकता है कि उस लडके के मन मे यही रहता है कि चाहे वह खिलौना मुझे मिले या न मिले, दूसरे के काम मे न आए, अर्थात् उसकी स्थिति मुझसे अच्छी न रहे। ईर्ष्या पहले-पहल इसी रूप मे व्यक्त होती है।

ईर्ष्या प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नही है। यदि एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नही है तो वह दूसरा व्यक्ति इस बात के लिए तीन प्रकार के दुःख प्रकट कर सकता है—

१—क्या कहे हमारे पास भी वह वस्तु होती।

२—हाय वह वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती तो अच्छा था।

३—वह वस्तु किसी प्रकार उसके हाथ से निकल जाती, चाहे जहाँ जाती।

इन तीनों वाक्यों को ध्यानपूर्वक देखने से जान पड़ेगा कि इनमे दूसरे व्यक्ति की ओर जो लक्ष्य है, क्रमशः विशेषत्व प्राप्त होता गया है और वस्तु की ओर जो लक्ष्य है, वह कम होता गया है। पहले वाक्य से जो भाव झलकता है वह ईर्ष्या नही है, साधारण स्पर्द्धा अर्थात् लाभ की उत्तेजित इच्छा का एक अच्छा रूप है। उसमे वस्तु की ओर लक्ष्य है, व्यक्ति की ओर नहीं। ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत। दूसरे वाक्य मे ईर्ष्या कुछ, और तीसरे मे पूरा आभास है। इन दोनों मे से एक (दूसरे) मे दूसरे से वञ्चित न रख सकने का दुःख गौण और दूसरे (तीसरे) मे प्रधान या एकान्त है।

स्पर्द्धा मे किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति-विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेग-पूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है, या यदि इच्छा पहले से होती है तो उस इच्छा को उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार की वेगपूर्ण इच्छा या इच्छा की उत्तेजना अन्तःकरण की उन प्रेरणाओ मे से है जो मनुष्य को अपने उन्नति-साधन मे तत्पर करती है। इसे कोई संसार को सच्चा समझने वाला बुरा नहीं कह सकता। यह उत्तेजना ऐश्वर्य, गुण या मान के किसी चित्ताकर्षक रूप या प्रभाव के साक्षात्कार से उत्पन्न होती है और कभी-कभी उस ऐश्वर्य, गुण या मान को धारण करनेवाले की पूर्वस्थिति के परिज्ञान से बहुत बढ़ जाती है। किसी अपने पड़ोसी या मित्र की विद्या का चमत्कार या आदर देख विद्या प्राप्ति की इच्छा उत्तेजित होती है और यह जानकर कि पहले वह एक बहुत साधारण बुद्धि या चित्त का मनुष्य था, यह उत्तेजित आशा-प्रेरित होकर और भी बढ़ जाती है। प्राप्ति की इस उत्तेजित इच्छा के लिए सम्पन्न व्यक्ति ऐसा मूर्तिमान और प्रत्यक्ष आधार हो जाता है जिससे अपनी उन्नति या सम्पन्नता की भी आशा बँधती है

और कार्यक्रम की शिक्षा मिलती है। किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छावाले को, किसी ऐसे व्यक्ति को देख, जिसने अपने पुरुषार्थ से वह वस्तु प्राप्त की हो, कभी-कभी बड़ा सहारा हो जाता है और वह सोचता है कि जब उस मनुष्य ने उस वस्तु को प्राप्त कर लिया तब क्या मैं भी नहीं कर सकता ? ऐसे सम्पन्न व्यक्ति की ओर जो इच्छुक या स्पर्द्धावान् का बार-बार ध्यान जाता है वह उसकी स्थिति मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए नही, बल्कि अपनी स्थिति मे परिवर्तन करने के लिए। स्पर्द्धा मे अपनी कमी या त्रुटि पर दुःख होता है, दूसरे की सम्पन्नता पर नही। स्पर्द्धा मे दुःख का विषय होता है "मैने उन्नति क्यों नहीं की" ? और ईर्ष्या मे दुःख का विषय होता है "उसने उन्नति क्यो की ?" स्पर्द्धा ससार मे गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की सख्या मे कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी।

ऊपर के विवरण से यह बात झलक गई होगी कि ईर्ष्या एक अनावश्यक विकार है, इससे उसकी गणना मूल मनोविकारों मे नहीं हो सकती। यह यथार्थ मे कई भावो के विचित्र मिश्रण से संघटित एक विष है। जब किसी विषय मे अपनी स्थिति को रक्षित रख सकने या समुन्नत कर सकने के निश्चय मे अयोग्यता या आलस्य आदि के कारण कुछ कसर रहती है तभी इस इच्छा का उदय होता है कि किसी व्यक्ति-विशेष की स्थिति उस विषय मे हमारे तुल्य या हमसे बढ़कर न होने पाए। यही इच्छा बढ़कर द्वेष मे परिवर्तित हो जाती है और तब दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट, न केवल उसी विषय मे बल्कि प्रत्येक विषय मे, वाछित हो जाता है। वैर और द्वेष मे अन्तर यह है कि वैर अपनी किसी वास्तविक हानि के प्रतिकार मे होता है, पर द्वेष अपनी किसी हानि के कारण या लाभ की आशा से नही किया जाता।

यह बात ध्यान देने की है कि ईर्ष्या व्यक्ति-विशेष से होती है। यह नही होता कि जिस किसी को ऐश्वर्य, गुण या मान से सम्पन्न देखा, उसी से ईर्ष्या हो गई। ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय मे यह धारणा

होती है कि लोगो की दृष्टि हमारे साथ-साथ उन पर भी अवश्य पड़ेगी, या पडती होगी। अपने से दूरस्थ होने के कारण अपने साथ-साथ जिनपर लोगो का ध्यान जाने का निश्चय नही होता उनके प्रति ईर्ष्या नही उत्पन्न होती। काशी मे रहनेवाले किसी धनी को अमेरिका के किसी धनी की बात सुनकर ईर्ष्या नहीं होगी। हिन्दी के किसी कवि को इटली के किसी कवि का महत्त्व सुनकर ईर्ष्या नही होगी। सम्बन्धियो, बाल-सखाओ, सहपाठियो और पडोसियो के बीच ईर्ष्या का विकास अधिक देखा जाता है। लडकपन से जो आदमी एक साथ उठते-बैठते देखे गए है उन्ही मे से कोई एक दूसरे की बढती से जलता हुआ भी पाया गया है। यदि दो साथियो मे से कोई किसी अच्छे पद पर पहुँच गया तो वह इस उद्योग मे देखा जाता है कि दूसरे किसी अच्छे पद पर न पहुँचने पाएँ। प्रायः अपनी उन्नति के गुप्त बाधको का पता लगाते-लगाते लोग अपने किसी बड़े पुराने मित्र तक पहुँच जाते हैं। जिस समय ससर्ग-सूत्र मे बाधकर हम औरो को अपने साथ एक पंक्ति मे खडा करते है उस समय सहानुभूति, सहायता आदि की सम्भावना प्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ ईर्ष्या और द्वेष की सम्भावना की नीव भी पड जाती है। अपने किसी विधान से हम भलाई ही भलाई की सम्भावना का सूत्रपात करे और इस प्रकार भविष्य के अनिश्चय मे बाधा डालें, यह कभी हो ही नही सकता। भविष्य की अनिश्चयात्मकता अटल और अजेय है। अपनी लाख विद्या-बुद्धि से भी हम उसे बिलकुल हटा नही सकते।

अब ध्यान देने की बात यह निकली कि ईर्ष्या के सचार के लिए ईर्ष्या करनेवाले और ईर्ष्या के पात्र के अतिरिक्त स्थिति पर ध्यान देनेवाले समाज की भी आवश्यकता है। इसी समाज की धारणा पर प्रभाव डालने के लिए ही ईर्ष्या की जाती है, ऐश्वर्य्य, गुण या मान का गुप्त रूप से, बिना किसी समुदाय को विदित कराए, सुख या सन्तोष भोगने के लिए नही। ऐश्वर्य्य या गुण मे हम चाहे किसी व्यक्ति से वस्तुतः बढकर या उसके तुल्य न हों, पर यदि समाज की यह धारणा है कि हम उससे बढ़कर या

उसके तुल्य हैं तो हम सन्तुष्ट रहेंगे, ईर्ष्या का घोर कष्ट न उठाने जायँगे। कैसी अनोखी बात है कि वस्तु-प्राप्ति से वञ्चित रहकर भी हम समाज की धारणामात्र से सन्तुष्ट रहते है।

ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है। इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ दुखी होते हैं। समाज के संघर्ष से जो अवास्तविकता उत्पन्न होती है वह हम पर प्रभाव डालने मे वास्तविकता से कम नहीं। वह हमें सुखी कर सकती है, दुखी भी। फारसी मसल है—सर्गे अम्बोह जशने दारद। हम किसी कष्ट में है, इसी बीच में कोई दूसरा व्यक्ति हमसे अपना भी वही कष्ट वर्णन करने लगता है तो हमारे मुँह पर कुछ हँसी आ जाती है और हम कुछ आनन्दित होकर कहते है "भाई। हम भी तो इसी बला मे गिरफ्तार है।" यदि दस पाँच आदमी कहीं कष्ट बतलानेवाले मिलें तो हमारी हँसी कुछ बढ़ भी जाती है। एक बार किसी ने अपने सम्बन्धी के मरने पर एक विद्वान् से पूछा कि "हम धैर्य्य कैसे धारण करे?" उसने कहा कि "थोडी देर के लिए सोचो कि इसी ससार मे लाखो अनाथ इधर उधर ठोकर खा रहे हैं, लाखों बच्चे बिना माँ-बाप के रो रहे हैं, लाखो विधवाएँ आँसू बहा रही है।" यदि हमें कोई कष्ट है तो क्या दूसरो को भी उसी कष्ट मे देखकर थोडी देर के लिए हमारा वह कष्ट सचमुच कुछ घट जाता है? यदि नहीं घटता है तो यह हँसी कैसी, यह धैर्य्य कैसा? यह हँसी केवल स्थिति के मिलान पर निर्भर है, जिससे अपनी स्थिति के विशेषत्व का परिहार होता है। यह लोक-संचय का एक गुण है कि कभी-कभी स्थिति के बने रहने पर भी उसके विशेषत्व के परिहार से तत्सम्बन्धी भावना मे अन्तर पड जाता है। पर यह अन्त ऐसा ही है जैसा रोते-रोते सो जाना या पीडा से चिल्लाते समय क्लोरोफार्म सूँघ लेना।

समाज मे पडते ही मनुष्य देखने लगता है कि उसकी स्थिति दोहरी हो गई है। वह देखता है कि "मै यह हूँ" और मै "यह समझा जाता

हूँ” इस दोहरेपन से उसका सुख भी दोहरा हो जाता है और दुःख भी। ‘मैं बड़ा हूँ’ इस निश्चय के साथ एक यह निश्चय और जुड़ जाने से कि “मैं बड़ा समझा जाता हूँ” मनुष्य के आनन्द या सुख के अनुभव में वृद्धि होती है। इसी प्रकार “मैं क्षुद्र हूँ” इस धारणा के साथ “मैं क्षुद्र समझा जाता हूँ” इस धारणा के योग से दुःख के अनुभव की वृद्धि होती है। इस प्रकार स्थिति के एकांत और सामाजिक दो विभाग हो जाने से कोई तो दोनों विभागों पर दृष्टि रख सकते हैं और कोई एक ही पर। शक्तिशाली और प्रतिभा सम्पन्न मनुष्य पहले यह प्रयत्न करते हैं कि “हम ऐसे हों।” फिर वैसे हो जाने पर यदि आवश्यक हुआ तो वे यह प्रयत्न भी करते हैं कि “हम ऐसे समझे जायँ।” इन दोनों के प्रयत्न जुदे-जुदे हैं। संसार में शक्ति सम्पन्न सब नहीं होते, इससे बहुत से लोग स्थिति के पहले विभाग के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता है उनमें अपने को असमर्थ देख दूसरे ही विभाग से किसी प्रकार अपना संतोष करना चाहते हैं और उसी पर दृष्टि रखकर प्रयत्न करते हैं। ईर्ष्या ऐसे लोगों के हृदय में बहुत जगह पाती है और उनके प्रयत्नों में सहायक भी होती है। भाव-प्रवर्तन आदि के बल से जिस समुदाय के प्राणी परस्पर ऐसे सन गए हैं कि अपने इन्द्रियानुभव और भावनाओं तक को जवाब देकर दूसरों के इन्द्रियानुभव और भावनाओं द्वारा निर्वाह कर सकते हैं, उसी में ईर्ष्या का विकास हो सकता है। अतः ईर्ष्या का अनन्य अधिकार मनुष्य-जाति ही पर है। एक कुत्ता किसी दूसरे कुत्ते को कुछ खाते देख उसे आप खाने की इच्छा कर सकता है, पर वह यह नहीं चाह सकता कि चाहे हम खायें या न खायें वह दूसरा कुत्ता न खाने पाए। दूसरे कुत्तों की दृष्टि में हमारी स्थिति वैसी है, इसकी चिन्ता उस कुत्ते को न होगी।

अपने विषय में दूसरों के चित्त में अच्छी धारणा उत्पन्न करने का प्रयत्न अच्छी बात है। इस प्रयत्न को जो बुरा रूप प्राप्त होता है वह असत्य के समावेश के कारण—दूसरों की धारणा की अवास्तविकता और

अपनी स्थिति की सापेक्षता के कारण। जब हम अपने विषय मे दूसरो की झूठी धारणा और अपनी स्थिति के सापेक्ष रूपमात्र से सतोष करना चाहते है तभी बुराइयो के लिए जगह होती है और ईर्ष्या की राह खुलती है। जैसी स्थिति हमारी नहीं है, जैसी स्थिति प्राप्त करने की योग्यता हममे नही है, हम चाहते हैं कि लोग हमारी वैसी स्थिति समझे। जैसी स्थिति से वास्तव मे हमे कोई सुख नहीं है वैसी स्थिति किसी दूसरे के समान या दूसरे से अच्छी स्वयं समझने से नही बल्कि दूसरो के द्वारा समझी जाने से ही हम सतोष करते हैं। ऐसे असत्य आरोपो के बीच यदि ईर्ष्या ऐसी असार वृत्ति का उदय हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे शायद यह धारणा हो सकती है कि ईर्ष्या अप्राप्त वस्तु ही के लिए होती है। पर यह बात नही है। हमारे पास जो वस्तु है उसे भी दूसरे के पास देखकर कभी-कभी हमें बुरा लगता है, हम दुःखी होते हैं। किसी गरीब पडोसी को क्रमशः धनी होते देख आसपास मे धनी माना जानेवाला मनुष्य कभी-कभी बुरा मानने लगता है। एक ऊँची जाति का आदमी किसी नीच जाति के आदमी को अपने ही समान वस्त्र आदि पहने देख बुरा मानता और कुढ़ता है। इसका कारण यह स्थायी बुद्धि या अहंकार है कि "हम ऊँचे हैं, वह नीचा है, हम बड़े हैं, वह छोटा है।" लोक-व्यवस्था के भीतर कुछ विशेष वर्ग के लोग, जैसे शिष्ट, विद्वान्, धर्म-चिन्तक, शासन-कार्य्य पर नियुक्त अधिकारी, देशरक्षा मे प्राण देने को तैयार वीर इत्यादि औरो से अधिक आदर और सम्मान के पात्र होते हैं। इनके प्रति उचित सम्मान न प्रदर्शित करना अपराध है। अन्य वर्ग के लोग लोक-धर्मानुसार इन्हे बडा मानने को विवश है। पर इन्हे दूसरो को छोटा प्रकट करने, क्या मानने तक का अधिकार नही है। जहाँ इन्होने ऐसा किया कि सम्मान का स्वत्व खोया।

न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंटे जोडता है। समाज-कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार मे कारीगर के प्रति यह

प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई-बडाई का अभिमान जगह-जगह जम कर दृढ़ हो जाता है उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और सघ-शक्ति क विकास बहुत कम अवसरो पर देखा जाता है। यदि समाज में उन कार्यों को, जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणी जीवन-निर्वाह करते हैं, परस्पर छोटाई-बडाई का ढिंढोरा न पीटा जाय, बल्कि उनकी विभिन्नता ही स्वीकार की जाय, तो बहुत-सा असतोष दूर हो जाय, राजनीतिक स्वत्व की आकाक्षा से स्त्रियों को पुरुषो की हद में न जाना पड़े, सब पढ़े-लिखे आदमियों को सरकारी नौकरियो के ही पीछे न दौड़ना पडे। जहाँ इस छोटाई-बडाई का भाव बहुत प्रचार पा जाता है और जीवन-व्यवहारो मे निर्दिष्ट और स्पष्ट रूपो मे दिखाई पडता है, वहाँ लोगो की शक्तियाँ केवल कुछ विशेष-विशेष स्थानों की ओर प्रवृत्त होकर उन-उन स्थानो पर इकट्ठी होने लगती है और समाज के कर्तव्य-विभागो मे विषमता आ जाती है अर्थात् कुछ सूने पड जाते हैं और कुछ आवश्यकता से अधिक भर जाते हैं, जैसा कि आजकल इस देश मे देखा जा रहा है। यहाँ कृषि, विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य आदि की ओर तब तक पढ़े-लिखे लोग ध्यान न देंगे जब तक कुछ पेशों और नौकरियो की शान लोगो की नजरों में समाई रहेगी। इस प्रकार की शान प्रायः किसी शक्ति के अनुचित प्रयोग मे अधिक समझी जाती है। कोई पुलिस का कर्मचारी जब अपने पद का अभिमान प्रकट करता है तब यह नहीं कहता कि मै जिस बदमाश को चाहूँ पकड़ कर तग कर सकता हूँ; बल्कि यह कहता है कि "मै जिसको चाहूँ उसको पकडकर तंग कर सकता हूँ।"

अधिकार सबंधी अभिमान अनौचित्य की सामर्थ्य का अधिक होता है। यदि अधिकार के अनुचित उपयोग की संभावना दूर कर दी जाय तो स्थान-स्थान पर अभिमान की जमी हुई मैल साफ हो जाय और समाज के कार्य्य-विभाग चमक जायँ। यदि समाज इस बात की पूरी चौकसी

रक्खे कि पुलिस के अफसर उन्हीं लोगों को कष्ट दे सके जो दोषी हैं, माल के अफसर उन्हीं लोगो को क्षतिग्रस्त कर सके जो कुछ गडबड करते है, तो उन्हे शेष लोगो पर जो निर्दोष हैं, जिनका मामला साफ है और जिनसे हर घडी काम पडता है, अभिमान प्रकट करने का अवसर कहाँ मिल सकता है ? जब तक किसी कार्य्यालय में छोटे से बडे तक सब अपना-अपना नियमित कार्य्य ठीक-ठीक करते है तब तक एक के लिए दूसरे पर अपनी बडाई प्रकट करने का अवसर नही आता है। पर जब कोई अपने कार्य मे त्रुटि करता है तब उसका अफसर उसे दण्ड देकर अपनी बडाई या अधिक सामर्थ्य दिखाता है। सापेक्ष बडाई दूसरे को क्षति-ग्रस्त करने और दूसरे को नम्र करने के सामर्थ्य का नाम है। अधिकार की सापेक्ष बडाई दूसरे को नम्र करने का सामर्थ्य है। इससे विदित हुआ कि यह छोटाई-बडाई हर समय तमाशा दिखाने के लिए नहीं है, बल्कि अवसर पडने पर सशोधन या शिक्षा के लिए है। किसी अवध के तअल्लुकेदार के लिए बडाई का यह स्वाग दिखाना आवश्यक नही है कि वह जब मन मे आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ गरीबों को पिटवाता चले। किसी देहाती थानेदार के लिए यह जरूरी नही है कि वह सिर पर लाल पगडी रख गॅवारो को गाली देकर हर समय अपनी बडाई का अनुभव करता और कराता रहे। अभिमान एक व्यक्तिगत गुण है, उसे समाज के भिन्न-भिन्न व्यवसायों के साथ जोड़ना ठीक नही। समाज में स्थान-स्थान पर अभिमान के अजायबघर स्थापित होना अच्छा नहीं। इस बात का ध्यान रखना समाज का कर्तव्य है कि धर्म और राजबल से प्रतिष्ठित संस्थाओ के अन्तर्गत अभिमानालय और खुशामदखाने न खुलने पाएँ।

इसी प्रकार किसी बडे धनी या गुणी का यह हर घडी का एक काम न हो जाना चाहिए कि वह औरो के धन या गुण से अपने धन या गुण का मिलान किया करे और अपने से कम धनी या गुणी लोगो से अपनी श्रेष्ठता देख-दिखाकर सन्तोष किया करे। इस प्रकार सन्तोष करना वस्तु

को छोड़ छाया पर सन्तोष करना है। इस प्रकार के सन्तोष का सुख मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, पर वह ऐसे ही अवसरों तक के लिए निर्दिष्ट है जब किसी त्रुटि का संशोधन हो, कठिनता का निराकरण हो या आवश्यकता की पूर्ति हो। उसे ऐसे अवसरो के अतिरिक्त और अवसरो में घसीटना बुराई है। कई आदमी किसी रास्ते के पत्थर को हटाने मे लगे हैं और वह नही हिलता है। एक दूसरा आदमी आकर अकेले उस पत्थर को हटाकर फेंक देता है। उस समय उसे अपने को बल मे औरो से बढ़कर देख सन्तोष और आनन्द होगा और शेष लोग भी उसके कृत्य से प्रभावित रहने के कारण उस समय उसके इस सापेक्ष आनन्द या आनन्द-प्रदर्शन से कुढ़े गे नहीं, बल्कि कुतूहल-युक्त होगे और शायद कुछ शिक्षा भी ग्रहण करेंगे। पर यदि उसे इस बड़ाई के आनन्द का चसका लग जायगा और वह हर घड़ी इसका अनुभव करना चाहेगा, उसे प्रकट किया करेगा तो यह एक प्रकार का दुर्व्यसन हो जायगा और अहकार के नाम से पुकारा जायगा।

जिस किसी के चित्त मे इस प्रकार अहंकार घर करेगा उसमे अपने चारो ओर अपने से घटकर धन, मान, गुण या बल देखने की स्थायी इच्छा स्थापित हो जायगी और जो वस्तु उसे प्राप्त है उसे भी दूसरों को प्राप्त करते देख उसे कुढ़न या ईर्ष्या होगी। उसके अहंकार से आहत होकर दूसरे लोग भी उसकी उन्नति न देखना चाहेंगे और उससे एक प्रकार की उचित ईर्ष्या रक्खेंगे। इस प्रकार ईर्ष्या की अच्छी खेती होगी। साराश यह कि अभिमान हर घड़ी बड़ाई की भावना भोगने का दुर्व्यसन है और ईर्ष्या उसकी सहगामिनी है। इस बड़ाई के अनुभव को भोगने का जिसे दुर्व्यसन हो जाता है उसके लिए उन्नति का द्वार बन्द-सा हो जाता है। उसे हर घडी अपनी बड़ाई का अनुभव करते रहने का नशा हो जाता है, इससे उसकी चाट के लिए वह सदा अपने से घटकर लोगों की ओर दृष्टि डाला करता है और अपने से बड़े लोगो की ओर नशा मिट्टी होने के भय से देखने का साहस नहीं करता। ऐसी अवस्था मे वह उन्नति की उत्तेजना और

शिक्षा से वंचित रहता है। इसी से अभिमान को मद भी कहते हैं। दुर्व्यसन किसी प्रकार का हो, मद है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि ईर्ष्या दूसरे की असपन्नता की इच्छा की अपूर्ति से उत्पन्न होती है। ऐसी इच्छा यदि किसी हानि के बदले में अथवा हानि की अशंका से हो तो वह शुद्ध ईर्ष्या नही है। किसी दूसरे से हानि उठाकर उसकी हानि की आकांक्षा करना, केवल बुराई का बुराई से जवाब देना है और क्रोध या वैर के अन्तर्गत है। इसी प्रकार यदि किसी की संपन्नता से हमे क्लेश या हानि की आशका है और हम उसकी ऐसो सपन्नता की अनिच्छा या उसका दुःख करते है तो केवल अपना बचाव करते हैं—आजकल के शब्दों मे अपनी रक्षा के स्वत्व का उपयोग करते हैं। यदि हम किसी अन्यायी को कोई अधिकार पाते देख कुढते है तो केवल अपने या समाज के बचाव की फिक्र करते हैं, ईर्ष्या नही करते। यदि हमे निश्चय है कि हमारा कोई मित्र इतना घमंडी है कि यदि उसे किसी वस्तु की प्राप्ति होगी तो वह हमसे ऐंठ दिखाकर हमारा अपमान करेगा, तो हमारा यह चाहना कि वह मित्र वह वस्तु न पाए अथवा इस बात पर दुखी होना कि वह मित्र वह वस्तु पा गया, ईर्ष्या नही, बचाव की चिन्ता है। इसी से अभिमानियो से ईर्ष्या करने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। लोग इस अधिकार का उपयोग भी खूब करते हैं। क्या राजनीति मे, क्या साहित्य मे, क्या व्यवहार मे, मानव जीवन के सब विभागो मे इस अधिकार का उपयोग होते देखा जाता है। ऐसा देखा गया है कि अच्छे से अच्छे लेखकों के गुणो पर उनके अभिमान से आहत लोगों के प्रयत्न या उदासीनता से बहुत दिनो तक परदा पडा रहा है और वे जिन्दगी भर भवभूति के इस वाक्य पर सन्तोष किए बैठे रहे हैं—

"उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्म्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

अभिमान-ग्रस्त के गुण को लोग देखकर भी नहीं देखते हैं। अभिमानी स्वय अन्धा होकर दूसरो की आँखे भी फोडता है। न उसे दूसरो के उत्कृष्ट गुण की ओर ताकने का साहस होता है और न दूसरो को उसके गुण को स्वीकार करने की उत्कंठा होती है। अभिमान दोनों ओर ज्ञान का निषेध करता है। अतः जिस प्रकार अभिमान न करना श्रेष्ठ गुण है, उसी प्रकार दूसरे के अभिमान को देख क्षुब्ध न होना भी श्रेष्ठ गुण है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि ईर्ष्या दूसरे की प्राप्ति या प्राप्ति की सम्भावना से उत्पन्न दुःख है, चाहे वह वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो। अतः ईर्ष्या धारण करनेवालो के दो रूप होते हैं, एक असपन्न और दूसरा सपन्न। असपन्न रूप वह है जिसमे ईर्ष्या करनेवाला दूसरे को ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दुखी होता है जो उसके पास नहीं है। ऐसे दुःख में आलस्य या असामर्थ्य से उत्पन्न नैराश्य, दूसरे की प्राप्ति से अपनी सापेक्षिक छोटाई का बोध, दूसरे की असंपन्नता की इच्छा, और अन्त मे इस इच्छा की पूर्ति मे बाधक उस दूसरे व्यक्ति पर एक प्रकार का मीठा क्रोध, इतने भावो का मेल रहता है। किसी वस्तु को हम नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरा उसी को प्राप्त करता है। हम समझते हैं कि लोगो की दृष्टि जब हमारी स्थिति पर पडती होगी तब उसकी स्थिति पर भी पडती होगी। इससे लोगों की दृष्टि मे हमारी स्थिति अवश्य कुछ न्यून जँचती होगी। अतः स्थिति की समानता के लिए हम चाहते है कि वह दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को न प्राप्त करता या खो देता। पर वह दूसरा व्यक्ति जीता-जागता यत्नवान् प्राणी होने के कारण उसे प्राप्त करता या रक्षित रखता है। इससे हमारी इच्छापूर्ति मे बाधा होती है और हम बाधक के ऊपर मन ही मन चिडचिडाते हैं।

ईर्ष्या मे क्रोध का भाव किस प्रकार मिला रहता है, इसका प्रमाण बराबर मिलता रहता है। दूसरे व्यक्ति को किसी वस्तु से संपन्न देख यदि कोई उससे ईर्ष्या करता है तो केवल यही नहीं होता कि वह उसी वस्तु

को उससे अलग करके या अलग करने का प्रयत्न करके सतोष कर ले, बल्कि वह उस सम्पन्न व्यक्ति को अवसर पाने पर, बिना किसी अन्य कारण के, कुवाक्य भी कह बैठता है। जी दुखाने का यह प्रयत्न बिना किसी प्रकार के क्रोध के नही हो सकता। इसी कारण जैसे क्रोध से जलना कहा जाता है वैसे ही ईर्ष्या से जलना भी कहा जाता है। साहित्य के शब्दो मे, क्रोध ईर्ष्या के सचारो के रूप मे समय-समय पर व्यक्त होता हुआ देखा जाता है।

अब यहाँ पर लगे हाथो यह भी देख लेना चाहिए कि यह क्रोध है किस प्रकार का। यह क्रोध बिल्कुल जड क्रोध है। जिसके प्रति ऐसा क्रोध किया जाता है उसके मानसिक उद्देश्य की ओर नहीं ध्यान दिया जाता। यदि हम असावधानी से दौड़ते समय किसी सोए आदमी से टकराकर उस पर बिगड़ने लगे, या रास्ते की ठोकर खाकर उसे चूर-चूर करने पर उतारू हो, तो हमारा यह क्रोध जड़ क्रोध होगा, क्योकि हमने यह विचार नहीं किया कि क्या वह आदमी हमे ठोकर खिलाने के लिए ही सोया था, या वह पत्थर हमारे पैर मे लगने के ही नामाकूल इरादे से वहाँ आ पड़ा था। यदि हमारे पास कोई वस्तु नहीं है और दूसरा उसे प्राप्त करता है तो वह इस उद्देश्य से नहीं प्राप्त करता कि उससे हम अपनी हेठी समझकर दुखी हो और हमारी इच्छापूर्ति मे बाधा पड़े। यह दूसरी बात है कि पीछे से यह मालूम करके भी कि उसकी प्राप्ति से हम अपनी हेठी समझ-समझ कर बेचैन हो रहे है, वह हमारे दुःख मे सहानुभूति न करे और उस वस्तु के लिए आनंद से कान मे तेल डाले बैठा रहे। प्रायः तो ऐसा होता है कि किसी वस्तु को प्राप्त करनेवाले मनुष्य को पहले यह ख्याल भी नही होता कि उसकी प्राप्ति से किन-किन महाशयो की मानहानि हो रही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ईर्ष्या धारण करनेवालो की दो दशाएँ होती हैं, असम्पन्न और सम्पन्न। असम्पन्न दशा का दिग्दर्शन तो ऊपर

हो चुका। सम्पन्न दशा वह है जिसमें जो वस्तु हमें प्राप्त है उसे दूसरे को भी प्राप्त करते देख हमें दुःख होता है। असपन्नता में दूसरे को अपने से बढ़कर होते देख दुःख होता है। सम्पन्न दशा में दूसरे को अपने बराबर होते दुःख होता है। असम्पन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से घटकर न रहे, बराबर रहे और सम्पन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से बढ़कर रहे, उसके बराबर न रहे। सम्पन्न की ईर्ष्या मे आकाक्षा बढ़ी-चढी होती है, इससे उसका अनौचित्य भी बढकर होता है। असम्पन्न ईर्ष्यावाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से बचाने के लिए आकुल रहता है, पर सम्पन्न ईर्ष्यावाला दूसरे को नीचा समझते रहने के लिए आकुल रहता है। असम्पन्न की ईर्ष्या मे नैराश्य का भाव और अपनी कमी का दुःख मिला रहता है, इससे उसकी कलुषता उतनी गहरी नहीं जान पड़ती। निराश और अभाव-पीड़ित मनुष्य जैसे इधर-उधर भूलता भटकता फिरता है वैसे ही ईर्ष्या की राह में भी जा पडता है। पर सम्पन्न ईर्ष्यालु की स्थिति ऐसी क्षोभकारिणी नहीं होती।

हमारा कोई साथी है जो किसी वस्तु मे हमसे कम है। उसकी कमी और अपनी बडाई देख-दिखाकर हर घड़ी प्रसन्न होने का हमें दुर्व्यसन हो गया है। इसी बीच उसको भी वह वस्तु प्राप्त हो जाती है और हमें जान पड़ता है कि हमारी स्थिति, जो सापेक्ष थी, मारी गई। अपने आनन्द मे इस प्रकार बाधा पड़ते देख हम अपने साथी की उस प्राप्ति से दुखी होते हैं और मन ही मन उस पर कुढते भी है। साथी को बहुत दिनों तक तो इसका पता ही नही चलता, पीछे पता चलने पर भी वह हमारे इस दुःख में कुछ भी सहानुभूति नहीं करता। हमारी कुप्रवृत्ति का कारण बिना अवसर के हर घड़ी बड़ाई का अनुभव या स्थिति की सापेक्षता का सुख भोगने की लत है। किसी स्थिति की वास्तविकता पर मुख्य और सापेक्षिकता पर गौण दृष्टि रखनी चाहिए। सापेक्षिकता नजर का खेल है, और कुछ नही। यदि हमें पेट भर अन्न नही मिलता है, पर लोग समझते है कि हम अपने किसी साथी से

अच्छे या धनी है तो लोगो को इस धारणा से हमारा पेट नहीं भर सकता। लोगों की इस धारणा से आनन्द होता है पर वह उस आनन्द का शतांश भी नही है जो वास्तविक स्थिति मे प्राप्त वस्तुओ से मिलता है। अतः स्थिति के वास्तविक आनन्दो को छोड इस छाया-रूपी आनन्द पर मुख्य रूप से ध्यान रखना प्रमाद और स्थिति की रक्षा का बाधक है। यदि हम वास्तविक दशा की ओर ध्यान रख आवश्यक प्रयत्न न करते रहेगे तो अपनी सँभाल नही कर सकते।

कभी-कभी ऐसा होता है कि लोगो की धारणा का कुछ मूल्य होता है, अर्थात् उससे कोई अनुकूल स्थिति प्राप्त होती है। जैसे, यदि किसी गाँव मे मूर्ख और विद्वान् दो वैद्य है तो लोग दूसरे को अधिक निपुण समझ उसके पास अधिक जायँगे और उसकी आमदनी अधिक होगी। अब यदि पहला वैद्य भी परिश्रम करके वैद्यक पढ लेगा और लोगो की यह धारणा हो जायगी कि यह भी विद्वान् है तो उस दूसरे वैद्य की आमदनी कम हो जायगी। ऐसी अवस्था मे उस दूसरे वैद्य का पहले वैद्य की उन्नति से कुढ़ना शुद्ध ईर्ष्या नहीं, हानि का दुःख या झुँझलाहट है। ईर्ष्या निःस्वार्थ होनी चाहिए।

ईर्ष्या का दुःख प्रायः निष्फल हो जाता है। अधिकतर तो जिस बात की ईर्ष्या होती है, वह ऐसी बात होती है जिस पर हमारा वश नहीं होता। जब हम मे अपनी ही स्थिति मे अनुकूल परिवर्तन करने की सामर्थ्य नही है तब हम दूसरे की स्थिति मे कहाँ तक परिवर्तन कर सकते हैं? जितनी जानकारी हमे अपनी स्थिति से हो सकती है उतनी दूसरे की स्थिति से नही। किसी स्थिति मे परिवर्तन करने के लिए उसके अंग-प्रत्यंग का परिचय आवश्यक होता है। पर कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते है जिनमे ईर्ष्या की तुष्टि का साधन सुगम होता, जैसे यदि किसी आदमी को किसी दूसरे से कुछ लाभ पहुँचनेवाला होता है या पहुँचता होता है तो हम उस दूसरे से उसकी कुछ बुराई कर आते है और उसे उस लाभ से

वंचित कर देते है । पर हमारी यह सफलता निरापद नहीं । यदि वचित व्यक्ति को हमारी कार्रवाई का पता लग गया तो वह क्रुद्ध होकर हमारी हानि करने के लिए हमसे अधिक वेग के साथ यत्न करेगा । हमने तो केवल जरा सा जाकर जबान हिलाने का कष्ट उठाया था, पर वह हमारी हानि करने के लिए पूरा परिश्रम करेगा ।

ईर्ष्या मे प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है । उसमे वह वेग नही होता जो क्रोध आदि मे होता है क्योकि आलस्य और नैराश्य के आश्रय से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है । जब आलस्य और नैराश्य के कारण अपनी उन्नति के हेतु प्रयत्न करना तो दूर रहा, हम अपनी उन्नति का ध्यान तक अपने मन मे नहीं ला सकते, तभी हम हारकर दूसरे की स्थिति की ओर बार-बार देखते है और सोचते है कि यदि उसकी स्थिति ऐसी न होती तो हमारी स्थिति जैसी है वैसी ही रहने पर भी बुरी न दिखाई देती । अपनी स्थिति को ज्यो की त्यो रख सापेक्षिकता द्वारा सन्तोषलाभ करने का ढील यत्न आलस्य और नैराश्य नहीं तो और क्या है ? जो वस्तु उज्ज्वल नही है उसे मैली वस्तु के पास रखकर हम उसकी उज्ज्वलता से कबतक और कहाँ तक सन्तोष कर सकते है ? जो अपनी उन्नति के प्रयत्न मे बराबर लगा रहता है उसे न तो नैराश्य होता है और न हर घड़ी दूसरे की स्थिति के मिलान करते रहने की फुरसत । ईर्ष्या की सब से अच्छी दवा है उद्योग और आशा । जिस वस्तु के लिए उद्योग और आशा निष्फल हो उस पर से अपना ध्यान हटाकर सृष्टि की अनन्तता से लाभ उठाना चाहिए ।

जिससे ईर्ष्या की जाती है उस पर उस ईर्ष्या का क्या प्रभाव पड़ता है यह भी देख लेना चाहिए । ईर्ष्या अप्रेष्य मनोविकार है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि किसी मनुष्य को अपने से ईर्ष्या करते देख हम भी बदले मे उससे ईर्ष्या नहीं करने लगते । दूसरे को ईर्ष्या करते देख हम उससे घृणा करते है । दूसरे की ईर्ष्या का फल भोग कर हम उस पर क्रोध करते है, जिसमे अधिक अनिष्टकारिणी शक्ति होती है । अतः ईर्ष्या एक ऐसी बुराई

है जिसका बदला यदि मिलता है तो कुछ अधिक ही मिलता है। इससे इस बात का आभास मिलता है कि प्रकृति के कानून मे ईर्ष्या एक पाप या जुर्म है। अपराधी ने अपने अपराध से जितना कष्ट दूसरे को पहुँचाया, अपराधी को भी केवल उतना ही कष्ट पहुँचाना सामाजिक न्याय नही है, अधिक कष्ट पहुँचाना न्याय है, क्योकि निरपराध व्यक्ति की स्थिति को अपराधी की स्थिति से अच्छा दिखलाना न्याय का काम है।

ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारणकर्ता स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती। उसके रूप आदि का पूरा परिचय न पाकर भी धारणकर्ता उसको हरम की बेगमो से अधिक परदा करता है। वह कभी प्रत्यक्ष रूप मे समाज के सामने नहीं आती। उसका कोई बाहरी लक्षण धारणकर्ता पर नहीं दिखाई देता। क्रोध मे आँखे लाल हो, भय मे आकुलता हो, घृणा मे नाक-भौ सुकुडे, करुणा मे आँसू आएँ, पर ईर्ष्या मे शायद ही कभी असावधानी से ठडी साँस निकल जाय तो निकल जाय। ईर्ष्या इतनी कुत्सित वृत्ति है कि सभा-समाज मे, मित्रमडली मे, परिवार मे, एकान्त कोठरी मे, कही भी स्वीकार नहीं की जाती। लोग अपना क्रोध स्वीकार करते हैं, भय स्वीकार करते हैं, घृणा स्वीकार करते हैं, लोभ स्वीकार करते हैं, पर ईर्ष्या का नाम कभी मुँह पर नहीं लाते, ईर्ष्या से उत्पन्न अपने कार्यों को दूसरी मनोवृत्तियों के सिर मढ़ते है। यदि हमें ईर्ष्या के कारण किसी की प्रशसा अच्छी नहीं लग रही है तो हम बड़ी गम्भीरता और सज्जनता प्रकट करते हुए उसके दोषो और त्रुटियो का निदर्शन करते हैं। वैर ऐसी बुरी वृत्ति तक कभी-कभी ईर्ष्या को छिपाने का काम दे जाती है।

———

मजदूरी और प्रेम

सरदार पूर्णसिंह

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवन-शाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानो के रूप मे निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियो की डालियाँ सी हैं। किसान मुझे अन्न मे, फूल मे, फल में, आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने मे किसान भी ब्रह्मा के समान हैं। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते मे, फूल-फूल मे, फल-फल मे बिखर रहा है। वृक्षो की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढा, जप और तप यह नहीं करता, संध्या-वदनादि इसे नहीं आते, ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं, मसजिद, गिरजे, मंदिर से इसे सरोकार नहीं, केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठढे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर

यह अपने हल बैलो को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही मे खेल-खेलकर बडे हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवो से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी ऑखे नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा मे यह प्रार्थना करता है। साय और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय मे अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावो की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नही देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे तो उसका इसे ज्ञान नही होता, क्योकि इसकी खेती हरी भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनद का स्थान है। पशुओ का चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चो की अपने बच्चो की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ राते गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानो मे देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नही। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानो को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतो मे से सूर्य्य और चंद्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरो पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु है। जब कभी मै इन बे-मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वय ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते है तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पॉव, एक टोपी सिर पर, एक लॅगोटी कमर मे, एक काली कमली कॅधे पर, एक लंबी लाठी हाथ मे लिए हुए गौवों का मित्र, बैलो का हमजोली, पक्षियो का महराज, महाराजाओ का अन्नदाता, बादशाहो को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखो और नगो का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिए का जीवन

एक बार मैने एक बुड्ढे गडरिए को देखा। घना जगल है। हरे-हरे वृक्षो के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़े अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखो मे प्रेम-लाली छाई हुई है। परतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशो में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर मे लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता है।

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नही। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते है। दिन को सूर्य्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गडरिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खडी सूर्य्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणे इसके लावण्यमय मुख पर पड रही हैं। यह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है!

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य्य की महिमा के तूफान मे पडी नाच रही है।

भेडो की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन रात उसके पास बैठे काट देते है। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखे शून्य आकाश मे किसी को देखते-देखते गल गई। पता नही, ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोडने तक की इन्हे फुरसत नही। पर, हाँ, इन सब की आँखे किसी के आगे शब्दरहित, सकल्परहित मौन प्रार्थना मे खुली हैं। दो राते इसी तरह गुजर गई। इनकी भेड अब अच्छी है। इनके घर मगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने मे नीले आकाश पर बादल घिर आए और

झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढा गडरिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। पिता को ऐसा सुखी देखकर दोनो कन्याओ ने एक दूसरे का हाथ पकड़कर पहाडी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होने धूम मचा दी। मेरी आँखो के सामने ब्रह्मानद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खडा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़े ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तके खो जावे तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति मे जो वेदगान हो रहा है उसे इस गडरिए की कन्याओ की तरह मैं सुन तो सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते है, ऋषियो ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पडितो की ऊटपटॉग बातो से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मद-मद हँसी मे ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओठ देख रहे है। पशुओ के अज्ञान मे गभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगो के जीवन मे अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है!

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ मे रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी"। वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पॉव, सिर, ऑखे इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजे उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथिवी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्म्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनो ही ईश्वर

के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्द-साज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी! मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्द-साज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ मे होते ही मेरे अतःकरण मे रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ मे लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखो की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमे बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखे ईश्वर के ध्यान मे लीन हो रही है। कुछ काल के उपरात "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज मे उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दो से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती।- ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों मे उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफल आदि के चित्रित चित्रो मे उनकी

कला-कुशलता को देख, इतनी सदियो के बाद भी, उनके अतःकरण के सारे भावो का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु, साथ ही, उसमे छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो हो जाते हैं। परंतु यंत्रो की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते है। उनमे और हाथ के चित्रो मे उतना ही भेद है जितना की बस्ती और श्मशान मे।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है। वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज मे कहाँ! जिस आलू को मैं स्वय बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू मे जो रस मुझे आता है वह वह टीन मे बद किए हुए आचार मुरब्बे मे नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज मे मनुष्य के प्यारे हाथ लगते है, उसमे उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमे मुर्दे को जिदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल मे बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते है, क्योकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रीयतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन मे कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कधो पर उठाकर, मीलो दूर से उसमे मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मै पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद रहता है। मै अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणो से अँधेरी रात पर सुफेदी सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। गाय का बछुडा खोला, दूध की धारो से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथो से पीसकर सुफेद आटा बना

लिया । इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर, एक हाथ मे दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ मे मक्खन की हॉडी । जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खडी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पडती है । उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रॅगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनदमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है । मेरे गुरु ने इसी प्रेम से सयम करने का नाम योग रखा है । मेरा यही योग है ।

मजदूरी और कला।

आदमियो की तिजारत करना मूर्खों का काम है । सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है । आजकल भाप की कलो का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौडी के सौ-सौ बिकते हैं । सोने और चॉदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नही मिल सकता । सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है । मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नही, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है । मदिर और गिरजे में क्या रक्खा है ? ईट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तालाश मदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी मे न करेगे । अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा मे ईश्वर के दर्शन करेगे । यही आर्ट है—यही धर्म है ।

निकम्मे रहकर मनुष्यो की चिंतन-शक्ति थक गई है । बिस्तरो और आसनो पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गए है । सारा जीवन निचुड चुका है । स्वप्न पुराने हो चुके है । आजकल की कविता मे नयापन नही । अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण सगीत साहित्य ससार मे प्रचलित होने वाला है । यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनो के पहियो के नीचे दबकर हमे मरा समझिये । यह नया साहित्य मजदूरो के हृदय से निकलेगा । उन मजदूरो के कठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना

जीवन आनंद के साथ खेत की मेडो का, कपडे के तागो का, जूते के टॉकों का, लकड़ी के रगो का, पत्थर की नसो का भेदभाव दूर करेगे। चरखा कातनेवाली स्त्रियो के गीत ससार के सभी देशो के कौमी गीत होगे ! मजदूरो की मजदूरी यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नए कवि पैदा होंगे, तभी नए औलियो का उद्भव होगा। परंतु ये सब मजदूरी के दूध से पलेगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियो के उद्यान मे प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्त्व थोडा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड जाती है। बासी चीजे अच्छी नही होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी मे मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का ? हवा चल रही है, जल बह रहा है, बादल बरस रहा है, पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है, घास नई, पेड नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी ! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पडे-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठढी वायु मे भ्रमण करो, वृक्षो के कोमल पल्लवो का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अतःकरण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। जब तक जीवन के आरण्य मे पादडी, मौलवी, पडित और साधु, सन्यासी, हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेगे तब तक उनका आलस्य जाने का नही, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। इसमे संदेह नही कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस साल वाले ताजे हैं।

गेरुए वस्त्रो की पूजा क्यो करते हो ? गिरजे की घटी क्यो सुनते हो ? रविवार क्यो मनाते हो ? पॉच वक्त की नमाज क्यो पढ़ते हो ? त्रिकाल सध्या क्यो करते हो ? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो । फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया ।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मा-रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यो की आत्माओ को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पॉति रूप-रग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है । जिस समाज मे इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है, क्योकि पूछनेवाले का कुल और उसकी जात वहॉ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहॉ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन है। अपने ही भाई-बहनो के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है ? यह सारा ससार एक कुटुम्बवत् है। लॅगडे, लूले. अधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते है जिसकी छत के नीचे बलवान्, निरोग और रूपवान् कुटुबी रहते है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है, क्योकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिये जो उपदेश दिए जाते है उनमे अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनो ही एक बात हुई । इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय सबध है ।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़े चराना, टाल्सटाय का

त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नता-पूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते-करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बडा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर-दूर से साधु आए हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बडा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मदूजरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है, संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी से ही सच्चे ऐश्वर्य्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकडों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपडे के ऊपर अंकित कर देती है। जापान-निवासी कागज,

लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपए के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्म-दात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती।

इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है, परंतु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के तांडव नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात् वहाँ वालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करनेवाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के

छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे है। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित है।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलो की पूजा छोडकर मनुष्यो की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शाने-वाले देवता रस्किन और टाल्सटाय आदि है। पाश्चात्य देशो मे नया प्रभात होनेवाला है। वहॉ के गंभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खडे हुए है। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियो की तरह इन महात्माओ को इस नए प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यो न? इ जनो के पहियो के नीचे दबकर वहॉ वालो के भाई बहन—नही नही, उनकी सारी जाति पिस गई, उनके जीवन के धुरे टूट गए, उनका समस्त धन घरो से निकलकर एक ही दो स्थानो मे एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मजदूरो के हाथ-पॉव फट रहे है, लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखो से विमर्दित है। मशीने बनाई तो गई थी मनुष्यो का पेट भरने के लिए—मजदूरो को सुख देने के लिए—परंतु वे काली-काली मशीने ही काली बनकर उन्ही मनुष्यो का भक्षण कर जान के लिए मुख खोल रही है। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाएँ दूर होगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशो मे लोगो को मज-दूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नही, पर वे तैयारी कर रहे है पूर्वोक्त काली मशीनो का आलिंगन करने की। पश्चिमवालो के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही है। सूर्य्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की

और जाता है। पर, आओ पश्चिम में आनेवाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजे।

भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनंद-मंगल का एक साधारण सा और महातुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है, अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालो को मारकर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है, जिस डाल पर बैठे है उसी डाल को स्वय ही कुल्हाडी से काटना है। अपने प्रिय जनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य्य, तेज, बल और पराक्रम नही प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा मे ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्यपूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रो से निकलकर बहती है तब वही जगत् मे सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया मे रख आवें और सब लोग उसी मे मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशकों की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

——————

Essay English

Ci[illegible] Dispute

Student and Discipline

Dowery Prohibition.

— × —

1 [illegible]
2 [illegible]

1 Character [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]